मृदुला गर्ग

ग्लेशियर से

ममी को जो
ग्लेशियर की खूबसूरती को
जानती हैं।

अनुक्रम

ग्लेशियर से

मिसेज दत्ता अकेली ताजीवास ग्लेशियर की तरफ जा रही हैं।

ताजीवास ग्लेशियर है। सब गाइड किताबों में लिखा है, है। ये इतने सारे लोग उसे देखने सोनमर्ग आये हैं। इसलिए...जरूरी है...कि है...पर...दिखलाई तो नहीं दे रहा...

दिखलाई जो दे रहा है, बिल्कुल साफ दिख रहा, वह है आसमान को छू रहे हरे पहाड़ों की चोटियों पर पुता सफेद रंग। बस में आते हुए रास्ते में ही दीख गया था।

"बर्फ, वह देखो बर्फ", मिस्टर दत्ता ने अपनी सीट से कहा था।

"बर्फ", सीट नम्बर चौदह ने खखार कर कहा था। "बर्फ", सीट नम्बर तेईस ने किलककर कहा था। "बर्फ", सीट नम्बर दो और तीन ने इकट्ठा कहा था। मिसेज दत्ता ने देखा था, पहाड़ों की चोटियों पर सफेदी जमी है। हां, वह बर्फ है...होनी तो चाहिए।

पहाड़ों पर बर्फ होती है।

बर्फ सफेद होती है।

बर्फ ठण्डी होती है, बेहद ठण्डी...बर्फ की तरह।

वे जानती हैं।

नहीं, जानती नहीं। उन्होंने पढ़ा है, ऐसा होता है, सुना है, ऐसा है। देखा नहीं तो जाना क्या?

दूर बर्फ है। बर्फ दूर है। पर मरीचिका की तरह नहीं। चन्द कदम

ग्लेशियर से

मिसेज दत्ता अकेली ताजीवास ग्लेशियर की तरफ जा रही हैं।

ताजीवास ग्लेशियर है। सब गाइड किताबों में लिखा है, है। ये इतने सारे लोग उसे देखने सोनमर्ग आये हैं। इसलिए…जरूरी है…कि है…पर…दिखलाई तो नहीं दे रहा…

दिखलाई जो दे रहा है, बिल्कुल साफ दिख रहा, वह है आसमान को छू रहे हरे पहाड़ों की चोटियों पर पुता सफेद रंग। बस में आते हुए रास्ते में ही दीख गया था।

"बर्फ, वह देखो बर्फ", मिस्टर दत्ता ने अपनी सीट से कहा था।

"बर्फ", सीट नम्बर चौदह ने खखार कर कहा था। "बर्फ", सीट नम्बर तेईस ने किलककर कहा था। "बर्फ", सीट नम्बर दो और तीन ने इकट्ठा कहा था। मिसेज दत्ता ने देखा था, पहाड़ों की चोटियों पर सफेदी जमी है। हां, वह बर्फ है…होनी तो चाहिए।

पहाड़ों पर बर्फ होती है।

बर्फ सफेद होती है।

बर्फ ठण्डी होती है, बेहद ठण्डी…बर्फ की तरह।

वे जानती हैं।

नहीं, जानतीं नहीं। उन्होंने पढ़ा है, ऐसा होता है, सुना है, ऐसा है। देखा नहीं तो जाना क्या ?

दूर बर्फ है। बर्फ दूर है। पर मरीचिका की तरह नहीं। चन्द कदम चल

लेने पर पास आ जायेगी···पैरों के नीचे···तासीशाम ग्लेशियर सिर्फ दो मील दूर है। मिसेज गुप्ता, मिसेज सोनी, मिसेज मान उसपर चल सकती हैं तो मिसेज दत्ता क्यों नहीं ? मिसेज दत्ता हर वह काम कर सकती हैं जो मिसेज बवा, मिसेज सोनी, मिसेज सिंह, करती हैं। अपने-अपने दायरे के भीतर आदमी एक-दूसरे के बराबर होता है !

पर ··मिसेज दत्ता तो अकेली ग्लेशियर जा रही हैं।

मिस्टर दत्ता ने कहा था, आज टूरिस्ट बंगले में आराम करेंगे, कल सुबह ग्लेशियर देखने चलेंगे···जल्दी क्या है ?

तीन बजे वे टूरिस्ट बंगले पर पहुंच गये थे।

चार बज रहे थे···

ग्लेशियर दो मील दूर है···ग्लेशियर सोलह घण्टे दूर है···मिसेज दत्ता को मिस्टर दत्ता के साथ ग्लेशियर देखने जाना चाहिए···मिसेज दत्ता को अकेले घूमने की आदत नहीं है···

पांच बज गये···

मिस्टर दत्ता चाय का तीसरा प्याला पी रहे हैं···मिसेज दत्ता दूसरा प्याला पीकर तृप्त हैं···आंखें मूंदे आराम कर रही हैं···कल ग्लेशियर चलेंगे···ग्लेशियर पन्द्रह घंटे दूर है···ठीक है···बात-बात पर बेताब होने की मिसेज दत्ता की आदत बरसों पहले छूट चुकी···

साढ़े पांच बजने लगे···

ऐसा भी होता है कि तोहफे पर चढ़े झीने कागज को उघाड़ने में डर लगता है और तोहफा···मिसेज दत्ता को खुद से डर लगता है···कागज झीना है पर एक के ऊपर एक बेहिसाब न जाने कितनी परतें हैं, कब तक कोई उतारे ? मिसेज दत्ता को मिसेज दत्ता बने रहने की आदत है···

छह शायद बजे नहीं···

यकायक हवा को न जाने क्या हो गया !

हू-हू कर रोती हुई बदहवास उठी और चीड़ के घने दरख्तों से टकरा-टकराकर सर धुनने लगी।

मिसेज दत्ता की आंख खुल गयी। क्या हुआ? यह हवा को क्या हो गया!

वे उठकर खड़ी हुई कि हवा आकर उनकी छाती से लिपट गयी। गले में पड़े दुपट्टे ने अड़चन पैदा की तो खींचकर उसे दूर फेंक दिया। चीड़ के दरख्त की तरह चौड़ा उनका सीना नहीं है···बिलखती हवा को सभालें कि दुपट्टा···

आदतन मिसेज दत्ता दुपट्टे के पीछे चल दीं और दौड़ने पर मजबूर हो गयी। हवा पागल हो चुकी थी, मिसेज दत्ता को दौड़ने की आदत न थी, फिर भी कुछ बदहवासी के बाद दुपट्टा हाथ आ ही गया। पर हवा का बिलखना न रुका। वे खड़ी रहीं पर चीड़ के दरख्त झुक गये। शाख झुकती और धक्का खाकर सीधी हो जाती, हवा की उनकी हमदर्दी कबूल न थी।

दुपट्टा हाथ में पकड़े, मिसेज दत्ता हवा के थपेड़े सहती कुछ देर खड़ी रही फिर जाने क्या हुआ कि खुद अपने हाथ से उन्होंने दुपट्टा दूर फेंक दिया और हवा के बहाव के साथ चल दीं···दुपट्टे को पेड़ों ने उलझा लिया पर मिसेज दत्ता चलती गयीं···

दस साल पहले वे मिसेज दत्ता नहीं थीं···

श्यामला पुरी ने कहा था, चल हम दोनों बारामुला के पहाड़ों पर रहकर मधुमक्खियां पालें। मुंह पर जाली बांधकर छत्ते में हाथ डालेंगे, शहद चुरायेंगे और बचेंगे शहर-शहर; पहाड़-पहाड़, ऊंचे और ऊंचे; बर्फ के साथ···तू और मैं···

नहीं-नहीं, ऐसा भी कहीं होता है। कभी सुना नहीं, देखा नहीं···

तो चल हम लोग भेड़ पालें···जम्मू में पठान खानाबदोशों के खेमों में रहेंगे, सर्दी खत्म होने पर चल देंगे···कगन···सोन मर्ग···लद्दाख··· हर महीने नया पहाड़, नया खेमा, पहले से लम्बी ऊन···साल में एक बार ऊन काटेंगे और बेच देंगे; अरे, मन हुआ तो भेड़ ही बेच डालेंगे। फिर नयी जगह, नया खेमा, नया धंधा···तू और मैं···बस, हम दो और पहाड़

'''हर सुबह नया पड़ाव'''

नहीं-नहीं, कैसे होगा ? न-न, मुमकिन नहीं है यह होना'''कोई भी तो ऐसे नहीं जीता'''हमारे जानने वालों में'''कोई भी तो नहीं'''

श्यामला को लोग पागल कहते थे। थी जो पागल'''थी ? बी० ए० बीच में छोड़कर एक दिन यकायक गायब हो गयी, जाने कहाँ। पर जाने से पहले'''

तब वे मिसेज दत्ता नहीं थी पर'''

क्या थी वे ?

मिसेज दत्ता बनने की तैयारी में मशगूल एक अदना लड़की।

हर लड़की श्यामला नहीं हो सकती'''

दस साल से उन्होंने व्यतीत को याद नहीं किया। आज अचानक यह हवा को क्या हुआ'''पहाड़ों पर घूमती श्यामला याद आ गयी।

श्यामला बहुत लम्बी थी, देवदार की तरह। ढीला कुर्ता और पाजामा पहना करती थी। दुपट्टा ओढ़ती तो चलते-फिरते रास्ते में कहीं गिर जाता '''चलती तो थी नहीं श्यामला, दौड़ती थी, इस पगलाई हवा की तरह''' पागल नहीं तो क्या कहते उसे'''

श्यामला'''श्यामला'''श्यामला'''

श्यामला उसे, मिसेज दत्ता को, जो तब मिसेज दत्ता नहीं उषा भटनागर थी, बहुत प्यार करती थी'''

हर लड़की के लिए जरूरी नहीं है कि वह कीमती पर्दों के नीम अँधेरे में सोफों और कालीन के रंग मिलाती हुई जिये, पत्थर और लकड़ी के चन्द टुकड़ों पर बिछे रंगीन कपड़ों को घर कहकर पुकारे और हर बरस घर के सामान में लोगों को दिखलाने लायक इजाफा करती हुई एक दिन खुद भी बेशकीमती सामान का दर्जा हासिल कर ले, श्यामला कहा करती थी'''

हर औरत के लिए मुनासिब नहीं है कि वह अपने से एक चौथाई दिमाग वाले आदमी से शादी करके उम्र-भर उसके कहे जुमले दुहराती हुई जिये जो उसने बासी किताबों से चुराये हों, श्यामला कहती थी'''

पर'''उसे, उषा भटनागर को खुद अपने से उतना प्यार नहीं था

जितना श्यामला को उससे था, लिहाजा'''एक दिन उषा भटनागर मिसेज दत्ता बन गयी'''.

पर मिसेज दत्ता तो अकेली'''

यह वक्त ग्लेशियर पर जाने का नहीं है, सूरज डूबने को है, अंधेरे में पांव फिसल गया तो'''और फिर जल्दी क्या है, सुबह आराम से नाश्ता करके, गाइड साथ लेकर चलेंगे, मिसेज दत्ता ने खुद से कहा, खुद-ब-खुद कहा क्योंकि कुछ देर पहले मिस्टर दत्ता ये शब्द कह चुके थे पर'''वह *वापस नहीं लौटी, ग्लेशियर की तरफ बढ़ती गयी'''*

रास्ता ऊबड़-खाबड़ है। पहाड़ के बीच चढ़ती-उतरती, पत्थर लुढ़काती, घास से महरूम धूल-भरी पगडंडी है। पर गलतफहमी की गुंजाइश नहीं है। इतने पैर इसे रौंद गये कि यह पहाड़ी पगडंडी बड़े शहर की गली की तरह पालतू हो चुकी है। मिसेज दत्ता सही गली की मुसाफिर हैं।

फिर भी'''

पगडंडी पर वे नीचे उतर रही हैं, झुण्ड के झुण्ड सैलानी ऊपर चढ़ रहे हैं, ऊबड़-खाबड़ पथरीली राह वे ऊपर चढ़ रही हैं, पर्यटकों की भीड़ नीचे उतर रही है, वे ग्लेशियर की तरफ जा रही हैं, लोग ग्लेशियर से लौट रहे हैं।

"घोड़ा ले लो मेमसाब, सिर्फ पन्द्रह रुपया," आवाज आयी है।

मेमसाब ने देखा है, ठीक-ठीक गाइड है। सिर पर गोल प्यालानुमा कश्मीरी टोपी, *मैला-पैबन्द लगा कुर्ता-पाजामा*, जाकेट, नाटे कद का जवान आदमी, बोलने का ठीक गाइडनुमा अन्दाज।

"नहीं," उन्होंने कहा, 'नहीं।"

"ले लो मेमसाब, हम भी कुछ कमायेगा। दस रुपया लेगा।"

"नहीं," उन्होंने फिर कहा, "नहीं।"

मैदान में दिन ढल चुका। पर यहां'''न जाने कितना वक्त गुजरा होगा''' सूरज सिर पर है। गरम तीखी रोशनी सोच को पिघला रही है। मैं कौन हूं'''मिसेज दत्ता'''बार-बार याद करना पड़ रहा है'''

"किधर जायेगा मेमसाब, ग्लेशियर ?"

कोई दूसरा गाइड है या शायद वही पहले वाला। एक कम्पनी की बनी मोटर गाड़ियों की तरह हैं सब।

"ग्लेशियर जाना, मेमसाब ?"

"हां···नहीं···" उसने कहा, "पता नहीं अभी···"

"यह रास्ता तो ग्लेशियर जाता है," गाइड जानकारी दे रहा है। आवाजें और भी हैं···

"मिसेज दत्ता, क्यों खामख्वाह अपने को बहका रही हो। तुम ग्लेशियर जा रही हो और सही-सीधे जाने-पहचाने रास्ते से। तुम चाहो तो भी गलत रास्ते पर नहीं चल सकती···"

"तुम किससे बात कर रही हो! मिसेज दत्ता···कौन है वह? कहां है?"

"मुझसे ? मैं मिसेज दत्ता हूं ?"

"नहीं···हां···हो नहीं हो?"

"तुम हो, तुम।"

"मैं···मैं···कौन···मिसेज दत्ता···"

"तुम ग्लेशियर जा रही हो।"

"कौन हो तुम ? कौन···कौन···"

"मैं···मेरा नाम···"

"उषा ! मिसेज दत्ता ! ग्लेशियर ! बर्फ ! श्यामला ! बर्फ की श्यामला ! सूरज का ग्लेशियर ! नहीं, बर्फ का ग्लेशियर ! सूरज की श्यामला ! उ···श्या उ···षा···श्या···उ···श्या···

"चुप," उसने कहा, "प्लीज इतनी सारी आवाजों में मत बंटो। मैं सोचना चाहती हूं।"

पर सूरज की किरणें कब मानती हैं ? हजार-हजार बूंदों में बंटकर बरसती रहीं। सात-सात रंगों में झिलमिलाकर बरसाती रहीं। सोच पिघलकर मोम बन गया।

सामने क्या नहीं बह रहा है—मोम का सोता ? लावे की तरह उबलता··· काले पत्थरों पर रंगीन लौ जलाता···

"घोड़ा ले लो मेमसाब," गाइड फिर पुकार रहा है, "नदी पार नहीं करने सकेगा।"

तो यह नदी है। क्या बहाव है ! सूरज और बर्फ के सम्मोहन से पैदा हुई नदी। ग्लेशियर को भी आखिर पिघलना पड़ा···सूरज की किरणें पत्थर को भी न पागल बना दें तो···

"घोड़े पर पर पार करायेगा, मेमसाब। हम भी कमायेगा, गरीब आदमी है। सिर्फ पांच रुपया," गाइड करीब आ गया।

उसने जवाब नहीं दिया।

यह एकटक नदी के बहाव को देख रही है।

इतनी तेज तो कभी श्यामला भी नहीं दौड़ी।

लगा दूं छलांग ? कूद जाऊं पानी में ?

समुद्री उफान में वह उन्माद कहां जो इस पहाड़ी नदी में है। उठाकर पत्थर पर पटक देगी और बहा ले जायेगी चूरा हुई देह के हर टुकड़े को साथ। समुद्र और पहाड़ी नदी में यही तो फर्क है। समुद्र की लहरें जाकर लौट आती हैं पर पहाड़ी नदी जिस दिशा में दौड़ पड़ी सो दौड़ पड़ी, फिर उसपर वापस नहीं आती। एक बार बदन कब्जे में आ जाये, उत्कण्ठित पानी उसे छोड़ेगा नहीं। रेशा-रेशा अलग हो जाये, सात रगों से सात आवाजें फूट निकलें···कितना भी ठोस पत्थर हो, इख्तियार उसका रहेगा नहीं। हर रेशे, हर रग, हर आवाज को मथता पानी बहा ले जायेगा··· उसे···वह कौन है···?

"छाती तक पानी है मेमसाब, दो रुपये में पार उतारेगा," गाइड ने आखिरी कोशिश की।

छाती तक पानी में खड़े होकर आंखें मूंद लो। पहाड़ी नदी का जनून खुद पांव उखाड़ देगा और फिर पत्थर भी···

उतर जाऊं पानी में ? बह जाने दूं शरीर को···?

उसकी आंखें मुंद गयीं।

नदी का पानी, सूरज की बंटी किरणें, पत्थर और पगडण्डी *एकसाथ* ऊपर उठे और गड्डमड्ड होकर गोल-गोल चक्कर काटने लगे।

वह सिर पकड़कर वहीं नदी के किनारे बैठ गयी।

नदी का पानी खिलखिलाकर हंस पड़ा।

डरपोक ! डरपोक ! ठोस धरती से इतना लगाव ! पार नहीं जाना ? नहीं जाना पार ?

उस पार ! उस पार !

वह बैठी रही।

पानी हंसता रहा।

सारे सैलानी लौट गये।

गाइड ने हार मान ली।

उसने धीरे-धीरे आंखें खोली।

सामने नदी का अट्टहास करता पानी है पर दूर···पानी से परे···

वह घास पर बैठी है। चार कदम पर बर्फ है। उसने छूकर देखी है। हां, बर्फ है। चीड़ की टूटी-बिखरी-फुनगियों-सी उगती टहनियों से अटी बर्फ की जमीन। पर बर्फ को खिजाता नदी का पानी है।

चार छलांग लम्बी नदी की चौड़ाई है। आदमी को सिर्फ एक छलांग की इजाजत है। पर बर्फ ?

उसने ध्यान से देखा···उससे कुछ कदम आगे पानी से राग तोड़े नहीं टूट रही। इस तरफ की बर्फ ने उस तरफ की बर्फ से मिलकर बीन बना दी है। बर्फ के उस छोटे-से पुल के नीचे पानी बेपनाह छटपटा रहा है।

वह उठकर खड़ी हो गयी।

हंसने दो पानी को। बर्फ पर सवार होकर वह नदी पार कर लेगी।

चिढ़ाते पानी को चिढ़ाकर वह हंस दी।

"एई लकड़ी। किदर जाता है !" कानों में एक कड़कदार आवाज पड़ी।

क्या हुआ ? पानी बोल पड़ा या पुल नाराज हो गया ?

उसने चौंककर इधर-उधर देखा···कहीं कोई नहीं है। बस, सूरज गिर पर है और गर्म रोशनी सोच को पिघला रही है।

उसने पैर आगे बढ़ाया।

"किदर जाता है लकड़ी ?" आवाज फिर गूंजी।

सिर को हाथों से थामकर उसने देखा…

दायें हाथ पर, चीड़ की बिखरी टहनियों और नाटे पौधों पर हावी बर्फ की चढ़ाई है। आवाज उधर ही से आयी है।

उसने देखा और आखें मलकर फिर देखा, बर्फ की उस चढ़ाई पर एक ऊंचा दरख्त उगा है…एक अकेला…चीड़ से ऊंचा…पहाड़ी पीपल…पर सोनमर्ग में पहाड़ी पीपल…रास्ते में तो नहीं देखा…

वह उसकी तरफ चल दी।

बिन झुके-उठे, पेड़ अपनी जगह पर खड़ा है। हां, उसने महसूस किया, हवा का उन्माद शात हो चुका है; पेड़ अब नही हिल रहे होंगे…शायद… यहा बर्फ पर तो अकेला एक वही पेड़ है।

वह और आगे बढी।

कहां, यह दरख्त तो नही है। बर्फ का आला बुत है…किसने बनाया? अपने डूबने की चाहत से रंगते सूरज ने इसे भी अपने रंग में समेट लिया है। तभी न इसकी आंखों से इस कदर शोख नीली रोशनी फूट रही है।

वह आगे बढ़ रही है…

बुत अपनी जगह खड़ा है…बुत है न, कैसे हिले-डुलेगा?

"किदर जाता था?"

उसके दिल की धड़कन बद होने को हो गयी। बर्फ का बुत नही, यह तो…

उसकी आखें अपनी पूरी चौड़ाई में खुल गयी और खुली रहीं…

"किदर जाता था?" पठान ने फिर पूछा।

"उधर…बर्फ के पुल से…पार," किसी तरह जवाब उसने दे दिया।

"बर्फ के पुल से?" वह ठठाकर हंस पड़ा। नीली आखें इस तरह भभक उठी कि उसकी अपनी आखें चुंधिया गयीं।

"हां," बमुश्किल उसने कहा।

"चल," उसने कहा और उसका हाथ पकड़कर एकदम चल पड़ा।

पुल के पास आकर वह रुका।

"चलेगा पार ?" उसने उसी खिलखिलाती, दिपदिपाती आवाज में कहा।

उस चुम्बकीय उन्माद का स्पर्श पा लेने पर 'हां' कहना तक दिक्कत पैदा करता है और 'हां' कहने के सिवा दूसरा चारा रखता नहीं'''

"चल," उसीने कहा और उसे खींचता हुआ पुल पर दौड़ गया।

चार कदम लम्बी दौड़ और ''पैरों तले की जमीन खिसक गयी।

बर्फ का पुल भड़भड़ाकर टूट गया।

छोटा-सा एक क्षण वह था जब वह हवा में लटकी थी और फिर एक खनखनाती हंसी उसे ऊपर उठाये थी।

नहीं-नहीं, क्या बेवकूफी की बात है।

पर'''छाती तक पानी है'''पानी पर तिरती खिलखिलाहट है'''क्या हुआ कि वह पानी में नहीं गिरी ?

साफ उसने सुना था'''उत्कंठा की धमक से टूटा बर्फ का टुकड़ा बोल पड़ा था—दुप ! उसके गले से घुटी चीख निकली थी—दुप! चीख कम वह हंसी ज्यादा थी। विस्मय और उत्तेजना से पैदा हुई उमंग-भरी किलकारी''' टूटकर गिरी कि अनमस्त हंसी ने उसे बाहों में उठा लिया।

पठान छाती तक पानी में है। वह उसकी बाहों में है और ठहरी हुई हवा की जिंदगी की चाहत से जन्मी हंसी बहाये लिये जा रही है।

"देखा !" उसने कहा, "पुल का हाल !"

उसने देखा, नीली आंखों की मशाल भभक रही है—दुप ! दुप !

उसकी हंसी में उसने अपनी खिलखिलाती हंसी जोड़ दी। नयी हिस्सेदारी की तरावट से टपकती हंसी।

नदी पार हो गयी।

उसने उसे बर्फ-सनी घास पर उतार दिया। सामने फिर पहाड़ हैं।

"ग्लेशियर ?" उसने कहा, "ग्लेशियर ?"

"स्लेज गाड़ी खेलेगा ?" पठान ने कहा।

"ग्लेशियर ?" उसने व्यग्र होकर कहा, "ग्लेशियर !"

"वह तो रहा," हवा में हाथ फहराकर उसने कहा।

"दिखलाई क्यों नहीं देता ?" गहरी उत्कण्ठा से उसने पूछा।

"मैं दिखलाऊंगा तेरे को, मैं !" उसने कहा और लम्बे डग भरता वापस बर्फ की उसी चढ़ाई पर चल दिया जहां से कुछ देर पहले नीचे उतरा था।

वह उसके पीछे चल दी···चली··दौड़ी···भागमभाग भागी···कि कहीं नजरों से ओझल न हो जाये। पैर फिसले, फिर जम गये। बर्फ पर वह लुढ़की, लिसड़ी, उठकर खड़ी हो गयी।

गिरती तो वह ठठाकर हंस देता।

"आ! आ न, यह तो रहा ग्लेशियर !" उसके हाथ हवा को बटोर लेते।

"दिखलाई क्यों नहीं देता ?" बेकरार वह कहती, "दिखलाई क्यों नहीं देता ?" और दौड़ पड़ती, लथर-पथर, भागमभाग कि बर्फ के खड़े कंधे के पीछे वह गायब न हो जाये। वह दीखना बन्द हो गया तो ग्लेशियर भी नहीं दिखेगा। वह चोटी के नीचे होती और वह चोटी के दूसरी तरफ उतर जाता तो पल-भर को सांस रुक जाती···दुबारा न दिखा तो ? पूरी ताकत लगाकर वह दौड़ पड़ती···

एक खड़ी चढ़ाई···एक तीखा मोड़···फेफड़े फाड़ती एक लम्बी दौड़ और ···वह जड़ लिये खड़ा था···बर्फ के किनारे···पहाड़ी पीपल का ऊंचा दरख्त।

सामने बर्फ का झरना है पर मूक, निस्पद !

चंचल पानी वेग से गिरा और बीच हवा में ठगा रह गया···निर्वाक्··· स्तब्ध !

"ग्लेशियर !" वह फुसफुसायी।

"स्लेज गाड़ी खेलेगा ?" पठान ने कहा।

"जिंदगी में पहली बार बर्फ देखी है," तृप्त लालसा को शब्द उसने दिये।

उतावला हो हंस वह दिया।

क्या हुआ ? ग्लेशियर फिर जलप्रपात बन गया !

"तब चल, खींचकर ले जाऊंगा ऊपर !" उसने कहा।

वह लकड़ी के सपाट तख्ते पर बैठी है और वह रस्सी से खींचकर उसे ग्लेशियर की ख़ड़ी बर्फ़ीली चढ़ाई पर ऊपर लिए जा रहा है।

तेजी से उठती-गिरती बदहवास सासों की गूंज हवा को कपा रही है।

"नहीं," उसने कहा, "तुम थक जाओगे। मैं चलूंगी। ऊपर तक खुद चलूंगी।"

उसने पीछे मुड़कर देखा।

"ले जायेगा खींचकर!" भरी बोतल से उड़ेलती शराब की तरह फक्कड़ आवाज में उसने कहा।

सूरज उनके साथ ऊपर चढ़ आया है। खुली बर्फ़ की सफेदी सात रंग सोखकर और सफ़ेद हो उठी है। उसकी आखें सतरंगी। नीली···हरी··· भूरी···जामुनी या···सात रंग अपने में समेटे, काली। दमकते गुलाबी चेहरे पर तीखी नाक, काली दाढ़ी और वशीकरण मंत्र-सी मोहपाश में बांधती ये रंग-रंग का धोखा देती आखें। उफ़, इतना खूबसूरत भी कोई हो सकता है···इमान?

कूदकर वह स्लेज से नीचे बर्फ़ पर आ गयी।

"मैं साथ चलूंगी," उसने कहा।

"तब हाथ पकड़ रखो। पहली बार बर्फ़ देखी है न," वह खिलखिलाया।

यह आदमी है या जुनून की जलती मशाल?

हाथ पकड़कर वह ऊपर चढ़ गयी। थकान से बदन चूरा हो गया। चोटी पर पहुंचकर उसने स्लेज का मुंह मोड़ा है और कहा है, "बैठो पीछे।"

वह पीछे बैठ गयी है। टांगें उसकी कमर को घेरकर आगे जमायी हैं, हाथ उसके कंधों पर रखे हैं और···जूम नीचे।

रफ़्तार। चाहत को दम देती रफ़्तार!

गति। दिल की धड़कनें से आगे धकेलती गति!

तेज़ी का वह आलम कि हवा पिछड़ जाये!

"फिर चलेगा ऊपर?"

अनकहा हां।

फिर ऊपर। हाथ में उसका हाथ। बर्फ में जलती मशाल।

जूम नीचे!

ऊपर सूरज। नीचे ठण्डी बूरे-सी उड़ती बर्फ···

फिर ऊपर।

सूरज ढल रहा है···सोच पिघल चुका···अब मशाल की गरमी पाकर शरीर पिघल रहा है, मोम की तरह···कोई *अहसास बाकी नहीं है*···बस, रफ्तार है और रफ्तार···नीचे फिर···ऊपर···

जूम नीचे, फिर ऊपर और···बर्फ पर केसर का बाग उग आया!

कितने मौसम बदल चुके।

कितने महीने?

जाफरान का फूल बैंजनी से नारंगी हो गया। चांद की रोशनी में चमक रहा है।

सूरज डूब चला।

उसकी आंखें मुंदी जा रही हैं।

जाफरान का फूल रंग बदल-बदलकर चमक रहा है···बैंजनी··· नारंगी···बैंजनी···नारंगी···

पल-भर को *आंखें खुलती हैं···बर्फ गुलाबी है या नीली*···फिर मुंद जाती हैं। शरीर की पिघलती बूंदें बर्फ की नजर हो चुकीं। मौत का फरिश्ता साथ है।

हां, अब पहचाना। *यह मौत का फरिश्ता है।* कोई इंसान इतना खूबसूरत नहीं हो सकता, न इतने गहरे छल सकता है।

तूफान आने से पहले सन्नाटा छा जाता है; मौत के सन्नाटे से पहले तूफान मचल उठता है; वह जुनून, वह शोखी, हवा का वह दिलफेंक मिजाज!

हाँ, अगली बार जब स्लेज नीचे लुढ़केगा तो वह बाहर कूद जायेगी।

मौत के फरिश्ते, तेरा लाख-लाख शुक्रिया, जिंदगी का यह नाजवाब समा बांधा कि…

अब बस…हाथ सुन्न हो गए…तेरे कंधे छूटे जा रहे हैं…पैर मेरे नहीं, नींद की अमानत हैं…मशाल बर्फीली धुन में बदल गई…मैं…बर्फ…हूं…

लुढ़कता हुआ उसका शरीर बर्फ की तलहटी पर आ लगा।

उसने तो अगली बार के लिए तय किया था। वह इसी बार…बेहोशी की बर्फ उसपर बिखर गयी…

उसके बदन में गरमी दौड़ गयी। तपती बूंदें गले से उतरीं और पूरे बदन में फैलने लगी। उसने आंखें खोल दीं।

उसके ओंठों से कहवा का प्याला लगा है…उसके सुन्न हाथ-पैरों की मसल आ रहा है…सामने मिस्टर दत्ता खड़े हैं।

"इस तरह बिना बतलाये चली आयीं," वे कह रहे हैं, "सूरज डूब गया तो घोड़े पर ढूंढने निकला। यह तो गनीमत हो गयी…"

सुनने लायक कुछ नहीं है। उसकी आंखें कुछ और ढूंढ रही हैं…वह…हां…वही तो है…उसके पैरों के पास…फिर यह धोखा कैसे हो गया!

उसने चाहा, आंखें मूंदकर बेहोशी की बर्फीली चादर ऊपर खींच ले पर…कहवा के घूंट गले से उतरते चले गये…बदन में गरमी फैलती रही…

पठान ने सहारा देकर मिसेज दत्ता को घोड़े पर सवार करा दिया। रास हाथ में लेकर वे सीधी तनकर बैठ गयीं। नजर घुमाकर ग्लेशियर को नहीं देखा। जो पीछे छूट गया सो…

मिसेज दत्ता ने घोड़े को एड़ दी। पहाड़ी घोड़ा दौड़ निकला। हवा पीछा करने लगी और उससे होड़ लेती एक आवाज दौड़ी…कल शाम आना। तेरे को मैं स्लेज गाड़ी खिलाऊंगा—मैं!

उसने मुड़कर देखा…पठान के पीछे बर्फ का पहाड़ है, घोड़े के आगे

पहाड़ी नदी है, बीच में दूर तक फैला सपाट मैदान है···

दूर से देखने पर लगा···बर्फ पर पहाड़ी पीपल उग आया है···सूरज की किरणों ने बर्फ के आला वृत को रंग दिया है···यह और कोई नहीं मौत का फरिश्ता है···

अगली सुबह वे सोन मर्ग से नीचे उतर आये···

बरस पर बरस बीतने लगे···

आजकल मिसेज दत्ता के घर, कालीन और पर्दों पर धूल जमा करती है···

झूलती कुर्सी

मैं अपनी बाल्कनी पर बैठी बाहर सड़क पर ताकती रहती हूं।

चौड़ी सड़क है। तारकोल की। काली-काली। दोनों तरफ पेड़ हैं। सूरज पेड़ों से नीचे झाँकता है। सड़क पर। रोशनी बूंद-बूंद झरती है। सड़क और काली-काली लगती है।

इस सड़क पर यातायात बहुत कम जाता है। बस-ट्रक-लॉरी एक भी नही। इक्की-दुक्की मोटर-गाड़ी, एकाध स्कूटर और पैदल यात्री। यह मेन रोड नहीं है। फिर भी है चौड़ी। जब बनी होगी, किसीने खयाल नहीं किया होगा, इसके समान्तर एक और चौड़ी सड़क है। उसीपर चलती हैं बसें··· ट्रक और लॉरी। इसपर नहीं।

तभी न, यह इतनी काली है। अब तक। जैसे जल बलकर चुकी हो। तभी न, इसपर पैदल आता आदमी दूर से दीख जाता है। मेरी बाल्कनी से। बहुत दूर से आता।

मैं बाल्कनी में बैठी नीचे सड़क पर ताकती रहती हूं।

बाल्कनी पर एक आरामकुर्सी हमेशा पड़ी रहती है। झूले की तरह बनी आरामकुर्सी। रॉकिंग चेयर। उसपर बैठिये। आखें बन्द कर लीजिये। कुर्सी को धीरे-धीरे आगे-पीछे कीजिये। शुरु-शुरु में सायास करना होगा। फिर कुर्सी और आपकी पीठ में सामंजस्य बन जायेगा। कुर्सी खुद-ब-खुद झूलती चली जायेगी। आप आखें खोल भी लें तो फर्क नहीं पड़ेगा। सपने खुली आख भी आते हैं और मुंदी आखों भी।

मैं इस आरामकुर्सी को कमरे के अन्दर बन्द नही करती। हमेशा

बालकनी पर रहने देती हूं। कौन जाने किस वक्त जरूरत पड़ जाये। मैं न भी रहूं तो वह रहती है।

मैं बालकनी मे झूलती कुर्सी पर बैठी दूर सड़क पर ताकती रहती हूं।

इस सड़क पर, मैंने कहा न, दूर से पैदल आता आदमी साफ दीख जाता है। सडक काली है और चौड़ी भी। आदमी दूर से दीखता है, खासकर तब, जब सफेद या नीले या पीले कपड़े पहने हो। हल्के रंगो के साफ कपड़े।

उसे सफेद-नीले-पीले कपड़े पहनने का बहुत शौक था। हल्के-हल्के रंगो के साफ कपड़े।

मैं बालकनी पर झूलती कुर्सी मे बैठी देख रही हूं···सड़क पर दूर··· *बायी तरफ···*

दूर से आता एक आदमी दिखलाई देता है। पहचाना-पहचाना। हल्के रंगों के कपड़ों में। कपड़े नीले हैं या पीले या शायद झक सफेद।

सूरज पेड़ों से नीचे झाक रहा है। पत्तों से छन, रोशनी बूंद-बूंद झर रही है। सड़क पर। उसके कपडों पर। उसपर। सडक और काली-काली लग रही है। उसके कपड़े और सफेद। वह कितना पहचाना-पहचाना है।

मैं उसे देख रही हूं। वह धीमे-धीमे आगे बढ रहा है। मेरी कुर्सी झूल रही है। एक ताल पर। मैं नही चाहती, ताल की गति मे अन्तर आये। एक छोटा-सा झटका। छोटे से छोटा भी। नही, लगना नही चाहिए।

वह मेरी नजरो के सामने, धीमे-धीमे, करीब आ रहा है।

मैं सांस नहीं ले रही। बस, झूल रही हूं। एक लय मे। बिना झटका खाये। दम साधे।

वह आगे बढ़ रहा है। उसकी चाल कितनी पहचानी-पहचानी है। मन्थर: एकसार। जैसे सड़क न होकर, पानी की झील हो। आदमी न होकर, शिकारा हो।

मैंने कभी उसे चलते हुए झटका खाते नही देखा था। न ही सड़क पर कभी नीचे देखते। वह ठीक सामने देखकर चलता था, मन्थर गति, एकसार चाल।

वह सामने देखता बढ़ रहा है। बिना झटका खाये। अभी उसकी नजर

बाल्कनी पर नहीं पड़ी। आंख की पुतली घुमाकर दायें देखे, तब न। पर वह तो हमेशा सामने देखकर चलता था। जब वह ठीक बाल्कनी के नीचे आ जायेगा तब एक बार घूमेगा'''दायें। एक नजर ऊपर फेंकेगा—मुझ-पर। और फाटक के अन्दर हो जायेगा। फिर सीधा ऊपर—मेरे पास।

पर अभी वह दूर है। सामने देखकर चल रहा है। धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है।

कितना पहचाना-पहचाना है वह। उसके कपड़े। उसकी चाल। उसकी दृष्टि की दिशा। और सब भी, जो धीरे-धीरे साफ होता जा रहा है।

उसके बाल भूरे थे और घुंघराले। नहीं, घुंघराले नहीं, सिर्फ लहर-दार। ज्यादा थे न, शायद इसीलिए सीधे सिर पर समाते नहीं थे। एक लहर पर दूसरी लहर। अंगुलियां सिरों तो बालों में हाथ गुम हो जायें।

वह पास आ रहा है। पेड़ों की शाखें झूल रही हैं। पत्ते हिल रहे हैं। छलनी की तरह धूप छान रहे हैं। कतरा-कतरा रोशनी उसके बालों पर झर रही है। उसके बाल कितने घने हैं और सुनहले। धूप में निखर आये भूरे बाल। अब सुनहले-घने-लहरदार। भरी दुपहरी में चमकती समुद्रतट की रेत की तरह। हवा में उड़ी-बिखरी-लहराई रेत। धूप से निखर आयी रेत। एक लहर पर दूसरी लहर। अंगुलियां डालकर चलाते रहो, रेत सिमटने में नहीं आती, हाथ गुम हो जाता है।

वह कुछ कदम और बढ़ आया है।

उसके चेहरे का रंग सुनहला था। होता है न ऐसा रंग ? जो न गोरा हो, न सांवला, कहीं दोनों के बीच का। क्नर जैसा। शायद उसे गेहुंआ कहते हैं। गेहुंआ-सुनहला। छांव में गेहुंआ धूप में सुनहला।

धूप की बूंदों से उसका चेहरा भीग गया है। भीगकर चमक रहा है। हां, सुनहला रंग दुपहरी में यूं ही दमका करता है। आंख टिकती नहीं, झपक जाती है। कितना सुनहला है इसका रंग। कितना पहचाना-पहचाना।

वह धीमे-धीमे आगे बढ़ रहा है।

उसके चेहरे के नक्श साफ होने वाले हैं।

वह काफी पास आ चुका है।

मेरी कुर्सी उसी लय पर झूल रही है।

वह चला आ रहा है।

यह वही है, वही, और कोई नही।

वही, मेरा परिचित।

कितना पहचाना-पहचाना है यह।

वह आगे वढ़ रहा है। अब उतने धीमे नहीं। उसकी चाल में तेजी आ गयी है।

अब वह फाटक के करीब है।

...मैंने आंखें बन्द कर ली है।

सब कुछ तो पहचान चुकी, मैं।

यह वही है, और कोई नही।

बस दो-चार कदम और—वह मेरे फाटक पर पहुंचा समझो—अभी न उसकी चाल में तेजी आयी है।

मेरी आखें बन्द हैं।

बस, अब वह फाटक ठेलकर भीतर घुसेगा...गलियारा पार करके सीढ़िया चढ़ेगा ...मेरा दरवाजा खोलेगा...मैं अपने दरवाजे पर सिटकनी कभी नही लगाती...कमरा पार करेगा और...फिर...बाल्कनी पर मेरे पास होगा !

मैं आखें तभी खोलूगी जब वह मेरे बिलकुल करीब होगा। बाल्कनी पर। मेरी कुर्सी की बगल मे। तब वह हाथ बढ़ाकर मेरी झूलती कुर्सी को टोक न देगा ? कुर्सी झूलना बद कर देगी। समय ठहर जायेगा। मैं आखें खोल लूगी। वह मेरे सामने होगा।

पर अभी मेरी आंखें बंद है। अभी फाटक चरमराया नही। अभी गलियारे मे पदचाप नही पड़ी। अभी सीढ़ियो पर थाप नही हुई। अभी दो-चार कदम और हैं।

दो-चार कदम और। चार...।तीन...। दो...एक...अभी फाटक चरमराया नही।

मैं आखें बन्द रखूं या खोल लू ?

अभी मेरी कुर्सी झूल रही है...अभी उसे किसीने टोका नही...अभी समय ठहरा नही...मैं आखें बन्द रखू या खोल लू ?

मैंने आँखें खोल लीं।

नीचे गलियारा खाली है…बाहर फाटक बन्द है…दूर तक सड़क सूनी है।

मैं सड़क पर बायीं तरफ देख रही थी न? या दायीं तरफ? या बायीं? या दायीं…?

मैं नजरें सड़क की दायीं तरफ घुमा लेती हूं।

एक आदमी सड़क पर चला जा रहा है। पर मेरी तरफ उसकी पीठ है। वह आ नहीं रहा, जा रहा है।

उसके कपड़े भूरे हैं, गाढ़े-गाढ़े भूरे। न पीले, न नीले, न सफेद : हल्के रंग के बिल्कुल नहीं।

उसके बाल काले हैं, तेल लगे चीकट काले। सीधे, सपाट और कम। न घने, न घुंघराले, न भूरे - सुनहले तो बिल्कुल नहीं।

वह चला जा रहा है। तेज-तेज कदम उठाता। कमर को झटका देता। जैसे सड़क न होकर, पहाड़ी हो। जैसे आदमी न होकर, बकरी हो।

यह कौन आदमी है? एकदम अपरिचित? अजनबी?

अच्छा ही है, इसका चेहरा मुझे दीख नहीं रहा। मेरी तरफ इसकी पीठ है। यह आ नहीं, जा रहा है।

इसका क्या देखना?

मैं नजर फिर सड़क की बायीं तरफ घुमा लेती हूं। वह जब आता था तो बायीं तरफ से।

मेरी कुर्सी झूल रही है।

मैं नीचे सड़क पर ताक रही हूं…बायीं तरफ।

सड़क सूनी है। काली-काली।

मैं आखें जमाए देखती रहती हूं…देखती रहती हूं…

…दूर से एक आदमी आता दिखलाई देता है। पहचाना-पहचाना। हल्के रंग के कपड़े पहने…

…कितना पहचाना-पहचाना है यह…

ट्रिंग-ट्रिंग! ट्रिंग-ट्रिंग!

टेलीफोन की घण्टी बजती है। बजती ही चली जाती है।

क्या पता उसका फोन हो? उसका ही होगा। उसका ही है। ऐसी घंटी तभी बजती है, जब वह फोन करता है।

मैं कुर्सी छोड़, फोन पर भागती हूं।

खाली कुर्सी झूल रही है। बराबर झूल रही है।

फोन का चोगा मेरे हाथ में है।

मैं अपनी आवाज को बेहद शीरी बनाकर कहती हूं...

"हैलो।"

"हैलो," उधर से आवाज आती है।

यह उसकी आवाज है, उसीकी।

ऐसी ही थी उसकी आवाज। भारी भी और महीन भी। दबंग भी और विनीत भी। गजब का उतार-चढ़ाव था उस आवाज में। मेरा नाम लेकर पुकारता तो तीन अक्षर कहते-कहते, तीन सुर बज उठते। मंच पर गाता तो अलाप लेते ही लगता, कक्ष के हर कोने में आरकेस्ट्रा बज उठा है।

उसने 'हैलो' कहा है तो दो सुर अलग-अलग बज उठे हैं। पहले शराब, फिर नमक। नमकीन नशा। कैसा होता है? ऐसा ही।

"हां, बोलो न," मैंने कहा है।

"मिलोगी?" आवाज आयी है।

"हां। कहां?" मैंने कहा है।

वह शायद सोच रहा है।

"रैम्बल!" मैंने खुद कहा है, "रैम्बल ठीक रहेगा। मैं पहुंचती हूं अभी आधे घण्टे में।"

हां, 'रैम्बल' ठीक रहेगा। चौड़ी सड़कों के चौराहे पर खुले मैदान में बना रेस्तरां। एक सार्वजनिक स्थान। खूब चहल-पहल। भीड़-भाड़। वहां ठीक रहेगा।

मैं जानती हूं न, सच्चा एकान्त सिर्फ भीड़ के बीच मिल सकता है। वहां कौन देखेगा हमें? इतने लोग होंगे। हर कोई साथियों के संग। सब व्यस्त। अपने-अपनों में मस्त।

कहीं अकेले में जाकर बैठो, सुनसान सड़क के किनारे या निर्जन मैदान

"यहां कहां ?"
"ऐसे ही।"
"कैसी है ?"
"बढ़िया। तू कैसी है ?"
"मजे में।"
"शादी हुई ?"
"हां। तीन-तीन बच्चे है। तेरी ?"
"अभी नही।"
"काम करती है ?"
"हां। इंडियन एयरलाइंस में।"
"बड़ी खुशकिस्मत है।"
"और तू ? पति कैसे है ?"
"मजे मे।"
"पटती है ?"
"चलता है। करके देख ले न।"
"हां···करूंगी···शायद।"
"चलूं। मेरी पलटन नीचे खड़ी है।"
"अच्छा···"

कुछ मुटा गयी है, नीरा। ज्यादा नहीं, कुछ। तीन बच्चे भी तो है। चलो, ठीक ही है। खास बुरा नही। सजी-सवरी, सुंदर ही दीख रही थी।

कॉफी अब उतनी गरम नही है। भाप उठनी बंद हो गयी। पता नही कब। पीने लायक है अब। छोटे-छोटे घूंट लेने की जरूरत नही रही। होंठ जलते नहीं। पर मैं लूंगी, छोटे-छोटे घूंट ही। लेते-लेते, वह आ जायेगा।

मैं बराबर नजर घुमाकर इधर-उधर देखती जा रही हूं। वैसे कोई दिक्कत नहीं है। वह जिधर से भी आये, टैरस पर बीचोबीच मुझे बैठा देख ही लेगा। फिर क्या है ? दस-ग्यारह सीढ़ियां और मेरे पास।···पर मैं चाहती हूं, उसे आता हुआ देखूं।

भीड़ बढ़ती जा रही है। लोग आ भी रहे हैं और जा भी।

एक और पहचाना चेहरा।

यह वही है न, जिसके साथ एक बार मैंने नाटक में अभिनय किया था। क्या नाम था नाटक का? हां, कांचनरंग। और इसका? हूं···याद आया···मोहन। ऊंह, क्या बेचारा-सा नाम है। वैसे अभिनय अच्छा किया था, बेचारे ने।

"हैलो, शेफाली। शेफाली ही है न?"

अरे, यह भी मुझे पहचान गया।

"हां।"

"मुझे पहचाना?"

"मोहन···"

"हां।"

"हैलो। कैसे हो?"

"मजे में। तुम?"

"बढ़िया।"

"उसी दफ्तर में···क्या था?"

"इंडियन एयरलाइंस···हां।"

"अभिनय नहीं करती, आजकल?"

"कभी-कभार।"

"बहुत दिनों से देखा नहीं।"

"हां···बस···तुम कर रहे हो आजकल, कोई नाटक?"

"हां। चौबीस को है। कमानी में। गिनीपिग। आना।"

"अच्छा। कोशिश करूंगी।"

"अच्छा···"

"अच्छा।"

कॉफी तो ठण्डी हो गयी। एक घूंट भरा। कैसा बदजायका-सा लगा।

कितनी देर हो गयी। वह अब तक नहीं आया। आयेगा तो पर लगता है, देर करके। इंतजार करना पड़ेगा। चलो···दूसरी कॉफी नहीं मंगाऊंगी। उसके आने पर ही···

एक और परिचित चेहरा। अपने ही दफ्तर में काम करने वाला।

हद हो गयी ! सारी की सारी दिल्ली आज 'रैम्बल' पर टूट पड़ी ? होने दो। मैं नही बोलूगी। अपना मुह घुमा लेती हूं। वह उधर से मुझे देखे बगैर निकल जाएगा।

गया···? हां। जाने दो। किस-किससे बात करूं ?

वह अब तक आया क्यो नही ?

मैं कुर्सी छोड़, खड़ी हो गयी। एक बिंदु पर पैर जमाये और चक्कर काटकर, कितनी बार इधर-उधर, नीचे-ऊपर देखा।

वह नही है। नहीं ही होगा वरना वह मुझे न भी दीखता, मैं उसे दीख गयी होती। दूसरी मंजिल पर, खुले में, बीचोंबीच, अकेली खड़ी।

उसने ठीक सुना था न ?

उसने सुनकर 'हां' कहा था न ?

'रैम्बल'। मैंने साफ-साफ 'रैम्बल' कहा था न ?

'हा'। उसने साफ-साफ 'हा' कहा था न ?

फिर वह अब तक आया क्यो नही ?

इतनी देर तो कभी नही की। या की है···कभी-कभी ?

अजीब जगह है यह 'रैम्बल'। इतना लम्बा-चौड़ा घास का मैदान। दो-दो मंजिलें। कोई दरवाजा नही। रोक-टोक नही। ओर-छोर नहीं। मैदान जाकर सड़कों मे मिल जाता है। चार-चार सड़कें। इतनी चौड़ी। इतनी भीड़-भाड़। इतना ट्रैफिक। आता हुआ आदमी दीखे भी तो कैसे दीखे ?

पर···वह न भी दीखता···मैं तो उसे दीख जाती।···अगर वह आता।

वह आया ही नहीं। क्यो नहीं आया ? आयेगा ही नही ?

उसने 'रैम्बल' के बजाय कुछ और तो नही सुन लिया ? साफ-साफ कहा भी था, मैंने···रैम्बल ? मैं साफ बोलती हूं। बोलती हूं न ? हां, बोलती तो हू। वे सब कहते थे। नाटक वाले।

फिर वह क्यों नहीं आया ? कहां गया ? चला नही ? पहुंचा नही ? क्या···यह हो सकता है···वह न आये ? बिल्कुल आये ही नहीं ?

नहीं-नही। वह आयेगा। जरूर आयेगा।

मैं बैठ जाती हूं। वह आयेगा।

बैठूं या खड़ी रहूं ?

कब तक ?

अगर वह नहीं आया…

समय बीतता चला गया ? मैं खड़ी रही ? सामने देखती रही ?…

और वह फिर भी नहीं आया ?

मैं धुन में तल्लीन हो जाऊंगी—और सदियों तक यहीं खड़ी रहूंगी !

उफ। कितनी भयानक जगह है यह 'रैम्बल' !

काली-काली सड़कें। खूंखार दरिंदों-सी लपलपाती गाड़ियां। पाम का जंगल। पान चबाते शिकारी। डरावने-जंगली चेहरे। हर चेहरे पर नकाब। अजनबी भीड़ का। बीच में लाचार लड़की मैं।

हर चेहरा मुझे घूरता हुआ। हर हाथ मुझे नोचता हुआ। हर पांव मुझे धकेलता हुआ। और मुझमें कोई हरकत नहीं…

मेरा खून जम रहा है। मेरा बदन सुन्न होता जा रहा है। मेरी आंखों को दीख रहा है…वह नहीं है।

वह नहीं आया। वह नहीं आयेगा।

नहीं ? आयेगा ही नहीं ?

यहां नहीं तो…कहीं और ?

मैं दौड़ी चली जा रही हूं…सीढ़ियां फलांगती…घास का मैदान पार करती…सड़क नापती…दौड़ी चली जा रही हूं…अपने घर की तरफ।

मैंने उससे यह तक नहीं पूछा था, वह चोल कहां से रहा है ? अब मैं उस तक कैसे पहुंचूंगी ? उसे कहां ढूंढूंगी ? अब वह नहीं मिलेगा।

कभी नहीं ? क्या पता वह दुबारा…

मैं दुगने वेग से दौड़ रही हूं।

मोटर-गाड़ियां चिंघाड़ रही हैं। बसें दहाड़ रही हैं। स्कूटर किकिया रहे हैं।

मैं सड़क पर बेतहाशा दौड़ रही हूं'''अपने घर की तरफ। कहीं उसका फोन दुबारा आये'''

कब फाटक खुला, गलियारा पार हुआ, सीढ़ियां छुटी और दरवाजा ठेलकर मैं फोन के पास ढह गयी।

ट्रिंग-ट्रिंग !

फोन बजा। बस, एक बार। झपटकर मैंने उठा लिया।

आशा और आशंका के बीच झूलती खुरदुरी आवाज में मैंने कहा, "हैलो।"

"हैलो," उधर से आवाज आयी।

यह उसकी आवाज है, उसीकी ऐसी ही थी, उसकी आवाज। भारी भी और महीन भी। दबंग भी और विनीत'''

"हैलो-हैलो," मैं पगलाई आवाज में चीखी "तुम 'रैम्बल' में क्यों नहीं आये'''रैम्बल में'''रैम्बल'''!"

मैंने 'रैम्बल' बिलकुल साफ कहा है। हालांकि मेरी सांस उखड़ रही है, दम घुट रहा है; जबान तालू से चिपकी जा रही है।

फिर भी मैंने 'रैम्बल' बिलकुल साफ कहा है।

"मैं वहीं तो था," वह कह रहा है।

"कहां ? रैम्बल में ?"

"हां।"

"कब ?"

"अभी। अभी तो लौटा।"

"पर मैं जो वहां थी। तुम्हारा कितना इन्तजार किया। दो घण्टे।"

"मैंने भी तो।"

"पूरे दो घण्टे तुम वहां थे ?"

"पूरे।"

"फिर मुझे दीखे क्यों नहीं ?"

क्या कहा उसने ?

"बोलो···मुझे दीखे क्यों नहीं···क्यों नहीं दीखे···क्यों··· क्यों···?"

मैं इतनी जोर से चीख रही हूं कि उसका कहा मुझे सुनाई नहीं दे रहा। बम फटने के बाद ऐसा ही होता है। हम कुछ नहीं सुन पाते।

····"अच्छा सुनो···" आखिर मैंने अपने पर काबू पा ही लिया।

"सुनो", मैंने कहा, "छोड़ो 'रैम्बल' तुम घर पर ही आ जाओ।"

और मैंने फोन काट दिया।

मैं जल्दी में थी। मुझे फौरन बाल्कनी पर पहुंचना था। जिससे उसे आते हुए देख सकूं।

बाल्कनी पर मेरी कुर्सी अब भी झूल रही है वैसे ही, जैसे तब, जब मैं फोन उठाने भागी थी।

यह खाली कुर्सी बदस्तूर क्यों झूले जा रही है?

मैं डरकर कभी कुर्सी को देख रही हूं, कभी सड़क को···और कभी फोन को।

मैं आहिस्ता से कुर्सी पर बैठी हूं। सिमटकर। एक कोने में। डरते-डरते।

कुर्सी एकाएक थम गई। कैसे थमी कुर्सी? किसने हाथ लगाया? किसने टोका इसे? किसने रोका?

मेरी पागल नजर चारों तरफ घूम गयी।

बाल्कनी खाली है। मेरे सिवा वहां कोई नहीं है।

गलियारा सूना है। कोई नहीं है।

सड़क सुनसान है। कोई नहीं है।

कहीं कोई नहीं है···कोई नहीं···

मैं उठी हूं। धीमे से फोन तक गयी हूं। पूरा टेलीफोन उठाया है। बाहर देखते-देखते, उसे लिये लौटी हूं। डोरी पर घिसटता फोन साथ चला आया है। पता नहीं, कितनी लम्बी है डोरी। मैं रुकी नहीं। तब तक, जब तक बाल्कनी पर पहुंच न गयी। कुर्सी के पास।

पता नहीं, डोरी दीवार से उखड़ गयी या जुड़ी रही।
मैं…नहीं…जानती…
मैं…जानना…नहीं…चाहती…

मैं कुर्सी पर बैठी हूं। फोन मेरे करीब रखा है।

शायद वह सड़क पर आता हुआ दीखे…शायद फोन बजे…शायद वह सड़क पर आता हुआ दीखे…शायद फोन बजे…शायद…वह…

टोपी

मन कहीं भी मंडरा रहा हो, अविजित वसल के पाव खुद-ब-खुद दफ्तर पहुंच जाते हैं। पाव नहीं गाड़ी, बड़े लोग भटकते भी मशीन पर चढ़-कर हैं। कोई मंजिल के रास्ते में भटकता है, कोई मंजिल पर पहुंचकर। पहली भटकन से छुटकारा पाने की उम्मीद की जा सकती है, दूसरी से कभी नहीं।

आज भी अविजित समय से दफ्तर पहुंच गया। जनरल मैनेजर की भारी-भरकम मेज के पीछे रिवाल्विंग कुर्सी में कैद हो गया। हाथ सीधा घंटी पर गया।

"सर!" उसका सेक्रेटरी भंडारी सामने खड़ा था।

"स्टेट बैंक के लोन की फाइल लाओ। फाइनेंस कमीशन में अपाइंमेंट तय हुआ? महाजन को रिमाइंडर भेजो, पेमेंट अभी तक नहीं हुआ। आज रिमाइंडर भेजो, परसों आदमी भेज देना···तुम खुद चले जाना, पेमेंट फौरन होना चाहिए। पवन कुमार को ट्रांसफर आर्डर गया कि नहीं। वह कानपुर में बैठा क्या कर रहा है, मुझे यहां जरूरत है उसकी। सतना को बुलाओ··· सेल्स टैक्स के केस की डेट आज है। और सुनो, देखो, सिंघानिया जी, कहां ठहरे हैं दिल्ली में। मुझसे बात करवाओ···"

पता नहीं उद्योगमंत्री मुकर्जी बाबू से मुलाकात हुई या नहीं। यह काम बहुत तंग कर रहा है। बांकुरा में फर्टिलाइजर फैक्टरी लगाने के लिए लाइ-सेंस लेना है। कब से जोड़-तोड़कर रहे हैं। निचली सीढ़िया तय हो चुकीं। अब सिंघानिया जी ने खुद मुकर्जी बाबू से अपाइंटमेंट लिया है। काम हो तो

जाना चाहिए। अविजित को अपने सोर्स से पता चला है, मंत्रीजी खानदानी सज्जन हैं, उनके यहां रकम चलती जरूर है, पर जरा तगड़ी।

"सर!" भंडारी ने कहा।

"सर!" सतना ने कहा।

"सर, कुमार रिपोर्टिंग!" पवन कुमार ने कहा।

"भंडारी, खिड़की का परदा खींच दो। धूप ज्यादा तेज है। बत्ती जला लो।" जेल की खिड़की से हरियाली और आसमान देखने को एक भटकता हुआ मन चाहिए, जो अविजित के पास अब नहीं है। पहले ही 'सर' ने उसे कनपटी की नस में छुप जाने पर मजबूर कर दिया था। दूसरे और तीसरे 'सर' ने तने शरीर में चाबी कस दी। अविजित खुद दीवारघड़ी बन गया। अब पांच बजे तक वह लगातार घंटों और मिनटों में बंधकर दौड़ लगायेगा।

भंडारी फोन मिलाता, उससे पहले ही सिंघानिया जी का खुद फोन आ गया। मंत्री जी से मिल चुके थे और कामयाबी हासिल न कर पाने से काफी तमतमाये हुए थे।

"अजीब आदमी है," उन्होंने कहा, "हाथ ही नहीं रखने देता। कितनी तरह से भेद लेना चाहा, पर वहां कोई असर नहीं।"

"पर मेरी सूचना तो यह है कि उनके साथ रकम चलती है।" अविजित ने कहा।

सिंघानिया जी एकदम गरम हो गये, "गलत सूचना है, बंसल," उन्होंने कहा, "मेरी आंखें कभी धोखा नहीं खातीं। मुझे लगता है, इस बार तुमने कोई बहुत ही कमजोर सोर्स पकड़ लिया है।"

"जी···" अविजित सोच में पड़ गया।

"मुझे लगता है," सिंघानिया जी कहते जा रहे थे, "या तो वाकई उस आदमी के खयालात ऊंचे किस्म के हैं, या वह खेल गहरा खेलता है।"

"जी।"

"मेरा ख्याल है, लाइसेंस किसी कांग्रेसी को मिलेगा। क्या विडंबना है! इलेक्शन के वक्त पार्टी को पैसा दें हम लोग, और मलाई लूटकर ले जाये कोई फटेहाल खद्दरधारी।"

"जी।"

"अरे भई वंसल," सहसा उनकी आवाज में सरगर्मी आ गयी, "तुम भी तो 'फ्रीडम फाइटर' हो। जेल काट आये थे न उन दिनों। बस, फिर क्या है, तुम मिलो न उनसे। देखो यह काम होना जरूर चाहिए...मैं कहता हू भाई, जरूरत पड़ने पर गाधी टोपी लगा लेने में कोई हर्ज तो नही है... क्यों ठीक है न ?"

"जी।" कहकर अविजित ने फोन रख दिया, पर उसके बदन में आग लग गयी। समझते क्या हैं मिस्टर सिंघानिया ! एक लाइसेंस लेने की खातिर अविजित बहुरूपिये का स्वाग रचेगा ! बढ़िया सिला सूट उतारकर खद्दर की धोती-कुर्ता पहन, गाधी टोपी लगाकर मुकर्जी बाबू के पास जायेगा और अपनी जेल-यात्रा का बयान करेगा। हिम्मत कैसे हुई उनकी यह प्रस्ताव देने की ?

और हिम्मत क्यो नही हुई अविजित की कि उसी वक्त उनके मुह पर तीन शब्द उछालकर इनकार कर दे ?

इसमे हिम्मत की क्या बात है ? उस समय वह शालीनता बरत गया, बस। इसका यह मतलब बिल्कुल नही है कि वह वाकई अपनेको इस तरह जलील होने देगा। इस्तीफे का क्या है, किसी वक्त भी दिया जा सकता है।

"भंडारी," उसने आवाज लगायी, "जितनी पेंडिंग फाइलें हैं, आज सब निकाल डालो। इस हफ्ते के अदर पिछला सारा काम निबट जाना चाहिए, समझे।"

अविजित काम में मशगूल हो गया। खाना खाने भी घर नहीं गया। पास के रेस्तरा से दफ्तर ही में मगा लिया।

तीसरे पहर सरण दफ्तर में आ धमका। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में साथ था, आजकल मेरठ में है। छठे-छमासे दिल्ली चला आता है। खादी का कुर्ता-पाजामा, सिर पर गाधी टोपी, चेहरे पर अपार सतोष ! आज उसे देखकर अविजित खीज से भर उठा।

"यार, तू ढग के कपड़े क्यों नही पहनता ?" उसके मुह से निकला।

"क्या मतलब ?" सरण बोला।

"अंग्रेज गये, स्वराज्य आ चुका, फिर गांधी टोपी लगाने की क्या तुक हुई भला ?"

"क्यों ? सभी तो लगाते हैं।"

"सभी नेता लगाते हैं। पर तू तो नेता नहीं है।"

"नेता गांधी जी थे, हम टोपी लगाते हैं।" सरण ने मासूमियत से कहा।

अविजित बेसाख्ता हंस पड़ा।

"इसमें हंसने की क्या बात है ?" सरण ने बुरा मानकर कहा, "एक वक्त था, जब तू भी खादी के कपड़े पहनता था और गांधी टोपी लगाता था, याद नहीं ?"

"हां, तब ये विरोध के प्रतीक थे। अब नहीं हैं। आजकल जब हम खुद मिलों में कपड़ा बना रहे हैं, दुकानों पर पिकेटिंग करके विदेशी माल जला नहीं रहे, तब यह लगाकर घूमने का मकसद ?"

"हम तो भइया, गांधी जी को मानते हैं। गांधी जी ने कहा था, स्वदेशी के बिना स्वतंत्रता किसी काम की नहीं है। खादी बुनना छोड़ दोगे, तो स्वराज्य भी नहीं रहेगा।"

"और ये जो इतनी बड़ी-बड़ी मिलें खोली जा रही हैं, उनका बुना कपड़ा कौन पहनेगा ?"

"पहनो तुम।"

"यानी मेरे पहनने में हर्ज नहीं है। है न ?" अविजित फिर हंस दिया।

सरण नाराज हो गया।

"तुम लोग सदा मुझपर हंसते रहे, पर बात मेरी ही ठीक निकली, हर बार। अच्छा तू बतला, जिसने देश की सेवा की होगी, वह चाहेगा नहीं कि लोग जानें, वह देश-सेवक है। सूट पहनने पर कौन विश्वास करेगा ?"

"और कोई देश-सेवा किये बगैर गांधी टोपी लगाकर खादी पहन ले तो ?"

"क्यों पहनेगा भला ? हां, यह हो सकता है कि किसी कारण पहले दिनों में देश का काम न कर पाया हो और अब करने का इरादा रखता हो।"

अविजित जानता है, सरण से बहस करना बेकार है। उसमें यह सिफ्त

है कि आप तर्क चाहे जो दे लें, उसके जवाब वही रहते हैं। पर उसे छेड़ने में अविजित को मजा आ रहा था, इसीलिए उसने कहा, "ऐसा कर, इस बार तू इलेक्शन में खड़ा हो जा।"

"इलेक्शन में खड़ा होना होता, तो बावन में ही न हो जाता, अपने पंत जी ने कितना कहा, विधानसभा में आ जाओ, मन्त्री-पद संभालो, पर हमने मना कर दिया। अपन ठहरे सीधे-सादे आदमी, सरकार चलाना अपने वस की बात नहीं है।"

"फिर तो तेरा टोपी पहनना बेकार रहा।" अविजित ने टोका।

"अपना काम तो सेवा करना है, भाई," सरण ने उसकी बात अनसुनी करते हुए कहा, "आजादी मिलने पर जो सीमेंट एजेंसी सरकार ने हमें दी थी, वह भी हमने छोटे भाई को दे डाली। पेट्रोल पंप का लाइसेंस मिला, तो लड़का कहने लगा, 'मैं चला लूंगा।' मैंने कहा, 'ठीक है भइया चला लो, अपने वस का तो यह रोग है नहीं।' हां, सरकार ने गांधी संस्थान चलाने को नियुक्त कर दिया, तो रास आ गया अपनको। छह बरस हो गये, आनंद ही आनंद है।"

"सीमेंट की एजेंसी, पेट्रोल पंप का लाइसेंस, और कुछ भी दिया सरकार ने?"

"हां," बिना हिचक सरण बोला, "स्टील का कोटा मिला था। पत्नी ने कहा, 'बच्चे बड़े हो गये, वक्त काटे नहीं कटता, कहो तो स्टील के बर्तनों की छोटी-सी फैक्टरी खोल लूं।' मैंने कहा, 'खोल लो देवी, हम तो स्त्री-पुरुष को समकक्ष मानते हैं।'"

अविजित निरुत्तर रह गया।

आगे केवल यही पूछा, "चाय पियोगे?"

"पी लूंगा," सरण ने तटस्थ भाव से कहा, "एकाध कप ले लेता हूं कभी-कभार।"

इत्मीनान से चाय पीकर सरण ने झोला संभाला और दरवाजे की तरफ बढ़ गया। अविजित ने सबसे ऊपर वाली फाइल सामने सरका ली।

दरवाजे पर पहुंचकर सरण सहसा पलटा और बोला, "अपने साथ एक चड्ढा हुआ करता था, याद है?"

"हां-हां।" अविजित ने तुरंत कहा। यूनिवर्सिटी में चड्ढा उसके सबसे अजीज दोस्तों में से था।

"बेचारा चल बसा।"

"क्या!" अविजित उठकर खड़ा हो गया, "कब?"

"आज सुबह किरिया करके ही तो चला दिल्ली के लिए।" सरण ने कहा।

"आज! सुबह! पहले क्यों नहीं बतलाया?"

"क्यों, पहले बतलाने से तू क्या करता?"

"इतनी देर यहां बैठा हंसी-ठट्ठा करता रहा, उसका मरना याद तक नहीं रहा!"

"हंसी-ठट्ठा मैंने तो नहीं किया।" सरण ने कहा।

हां, हंसा सिर्फ अविजित था।

वह वापस कुर्सी में धंस गया।

"क्या हुआ था उसे?" सूखे गले से पूछा।

"बेचारा बड़ी तंगहाली में मरा। मैंने कितना कहा, 'चलो सरकारी अस्पताल में भर्ती करवा दूं,' पर वह माना ही नहीं।"

"हुआ क्या था?" अविजित ने बाधा दी।

"होना क्या था, एक गुर्दा तो तभी खराब हो गया था, जब उन्नीस सौ बयालीस में जेल गया···इलाज कुछ हुआ नहीं···बस···अब दूसरा गुर्दा भी जवाब दे गया।"

"वह मेरठ ही में था?"

"हां।"

"तूने कभी उसके बारे में बतलाया नहीं?"

"तूने पूछा कब?"

"मुझे पता नहीं था, वह मेरठ में है।"

"पता मुझे भी नहीं था। करने से चल गया। बाद में भले ही गलत रास्ते पर पड़ गया हो, एक वक्त में था तो हमारा ही साथी।"

"गलत रास्ते पर वह कब पड़ा?"

"१९४२ में छिपकर काम कर रहा था।"

"तो?"

"गांधी जी ने छिपकर काम करने को गलत बतलाया था। उन्होंने सभी भूमिगत विद्रोहियों को राय दी थी कि वे सरकार के आगे समर्पण कर दें।"

"वे जानते भी थे, उन लोगों के साथ जेलों में क्या सुलूक किया जाता है? उनके खुद के साथ कभी कोई जुल्म हुआ नहीं, इसीसे…"

"नहीं हुआ, क्योंकि अहिंसा से उत्पन्न उनकी नैतिक शक्ति के सामने ब्रिटिश सरकार भी नतमस्तक थी।"

"तुम जानते हो, चड्ढा के साथ फतेहगढ़ जेल में क्या हुआ?"

"जानता क्यों नहीं। मैं तो खुद तुम्हें बतला रहा था।"

"जानते हुए भी तुमने उसे बिना इलाज मर जाने दिया?"

"मैंने? मैंने तो भइया उसे बचाने की बहुत कोशिश की। कितनी बार कहा, 'सरकार के नाम अर्जी दे दो। बाद में जो हुआ हो, बत्तीस में तो गांधी जी के सविनय-आज्ञा-भंग आंदोलन में हिस्सा लिया ही था और दो बरस जेल भी काट आये थे, इलाज का इंतजाम जरूर हो जायेगा…मैं खुद सिफारिश कर दूंगा', पर वह माना ही नहीं। अब मैं…"

"शट-अप!" अविजित ने तड़पकर कहा, "और…चले जाओ यहां से।"

"ठीक है," सरण ने कहा, "पर यह जरूर सोच रखना, तुमने खुद क्या किया उसके लिए!"

अविजित के पास कोई जवाब नहीं था।

सरण कमरे से बाहर चला गया।

चड्ढा बिना इलाज मर गया और उसका बीस हजार रुपया अविजित के पास पड़ा है।

बारह साल पहले का दृश्य अविजित की आंखों के सामने साकार हो गया। १९४२ का अगस्त खत्म होने को था, जब शाम के घिरते झुटपुटे में नुकीली छोटी दाढ़ी और पादरी के लबादे के पीछे छिप चड्ढा उसके घर आ पहुंचा था। "पुलिस मेरे पीछे है। लगता है, अब मैं जल्दी गिरफ्तार हो जाऊंगा।" उसने कहा था।

"मैं कुछ कर सकता हूं तेरे लिए ?" अविजित ने पूछा था ।

"इसीलिए तो आया हूं। तुझपर कोई शक नहीं करेगा।" उसने कहा था।

"क्यों नहीं करेगा ?" अविजित को उसका संकेत बींध गया था, "मेरा रिकार्ड काफी खराब है।"

यह ठीक था कि १९४२ में वह एक प्रतिष्ठित उद्योगपति के यहां ऊंची पोस्ट पर काम कर रहा था, पर दस साल पहले विद्यार्थी-जीवन में दो बरस की जेल भी तो काट आया था।

"इसीलिए तो आया हूं," चड्ढा ने मुस्कराकर दोहराया था, "मुझे ऐसे आदमी की जरूरत है, जिसपर न मुझे शक हो, न सरकार को।"

"करना क्या है ?" उसने पूछा था।

"यह रुपया और कागज रख ले, बस। पकड़ा नहीं गया, तो खतरा कम होने पर खुद ले जाऊंगा, वरना हमारा कोई आदमी। पासवर्ड होगा—पीला साफा।" चड्ढा ने मतलब की बात के अलावा उसे कुछ नहीं बतलाया था, पर जाहिर था कि वह किसी भूमिगत दल के लिए काम कर रहा है।

अविजित ने रुपया रख लिया था।

उसके बाद···जब-जब चड्ढा मिला, रुपया उसे देना चाहा, पर उसने लिया नहीं, पहली बार मिला था, १९४५ में, फतेहगढ़ जेल से छूटने पर, हड्डियों का ढांचा और एक टांग पर लंगड़ाता हुआ।

"यह क्या हाल हो गया तेरा ?" अविजित कह उठा था।

"अब यार, इंकलाबी शौक फरमायेंगे, तो कुछ न कुछ तो होगा ही।" कहकर चड्ढा ठठाकर हंस दिया था और थककर देर तक निढाल पड़ा रहा था। अविजित खामोश रहा था।

"अच्छा, यह बतला," चड्ढा ने गुर्राकर कहा था, "हमने लड़ाई बंद क्यों कर दी ? ब्रिटेन अपनी लड़ाई जीत गया, पर हम ?···गांधी जी ने कहा, 'करो या मरो,' और जब जनता कर गयी, तो कह दिया, 'इस आंदोलन से हमारा कोई संबंध नहीं है। क्यों ?"

क्यों का जवाब अविजित के पास नहीं था।

पहले वह पूछता था, मैं क्यों नहीं ?

अब वह पूछने लगा है, मैं ही क्यों ?

जो ठोस था, उसीको थामकर उसने कहा था, "तेरा रुपया मेरे ही पास है।"

"रहने दे," चड्ढा ने कहा था, "रुपया मेरा नहीं, दल का था और दल अब तितर-बितर हो चुका है।"

"तो क्या करें रुपये का ?"

"रख अभी। देखें आगे क्या होता है।"

उसके बाद चड्ढा मिला था १९५० में, आजादी मिलने के तीन साल बाद।

"तेरा रुपया···"अविजित ने फिर कहा था।

"मेरा नहीं, दल का।" उसने कहा था।

"हां, पर अब तो दल के लोग भूमिगत नहीं हैं। रुपया लेकर आपस में बांट लो।"

"किस हिसाब से ?" चड्ढा ने पूछा था, "रुपया हम लोगों ने अपने लिए नहीं, दल के काम के लिए जमा किया था।"

"फिर···यूं ही बेकार पड़ा रहेगा रुपया ? कुछ तो करना ही होगा।"

"आदमी बेकार पड़ा रह सकता है, रुपया नहीं ?"

"पर···मुझे तो उबार इस जिम्मेवारी से बतला क्या करूं उसका ?"

"किसी संस्था को दान कर दे।"

"किसे ?"

"मैं क्या जानूं।"

दो क्षण चुप रहकर चड्ढा सहसा तल्खी से कह उठा था, "कांग्रेस के इलेक्शन फंड में दे देना।"

तब से आज तक चड्ढा से मिलना नहीं हुआ।

रुपया अभी भी उसके पास है। सूद मिलाकर तीस हजार हो गया। कहीं दान नहीं दिया। सोचा था, शायद कभी जरूरत हो और चड्ढा मांगने आये। सच, यही बात थी, और कुछ नहीं···

अविजित के लिए कुर्सी पर बैठे रहना नामुमकिन हो गया। हजारों काटे उग आये उसमें। शरीर के रोम-छिद्रों में गड़ने लगे। वह उठा और कमरे के फर्श को रौंदने लगा। दस कदम आगे…दस कदम पीछे…आगे …पीछे…कोई फायदा नहीं…कांटे उसके शरीर में उगे हैं, कुर्सी में नहीं।

कितने दिन रुपया बेकार बैंक में पड़ा रहा…फिर…अविजित मकान बनवा रहा था, रुपये की जरूरत थी। उसने वह रुपया मकान में लगवा दिया। सिर्फ उधार लिया था। दो साल के अन्दर पूरा रुपया लौट आया था बैंक में…चड्ढा लेने आता, तो सूद समेत उसे लौटा देता। सच। जिस संस्था को वह कहता, दान कर देता। बिलकुल। उसने कुछ कहा ही नहीं।

"मैं नहीं जानता था वह मेरठ में है…मैं बिलकुल नहीं जानता था, वह तंगी में है, बीमार है, उसे इलाज की जरूरत है…जानता तो जरूर उसके पास जाता, उसका इलाज कराता…सच…मैं…करता…जरूर…"

अविजित की आवाज कमजोर पड़ती गयी और एक अन्य स्वर उसके भीतर पनप उठा…

"पिछली बार जब चड्ढा मिला था, तो उससे पूछा था, वह कहां रहता है?"

"हां, पूछा था। बिलकुल पूछा था," कमजोर आवाज ने जवाब दिया, "तब वह इलाहाबाद में एक पत्रिका का संपादन कर रहा था। यही जानने को तो पूछा था कि आमदनी का जरिया क्या है उसके पास?"

"पत्रिका को लिखते, तो पता न चल जाता, वह किधर गया!"

"हां, पर…मैंने दो-तीन खत उसे लिखे। जवाब नहीं आया, तो मैंने सोचा, *वह ताल्लुकात रखना नहीं चाहता…अब किसीसे जबरदस्ती तो* दोस्ती रखी नहीं जा सकती।"

"पत्रिका में किसी दूसरे संपादक का नाम छपा देखकर क्या सोचा, चड्ढा मर गया?"

"नहीं-नहीं, मैंने पत्रिका देखी ही नहीं। सच, मुझे पता नहीं चला, चड्ढा कब नौकरी या इलाहाबाद छोड़ गया।"

"और पता करने की जरूरत भी महसूस नहीं की?"

"मैं इतना व्यस्त रहा…घर…परिवार…दफ्तर…कारोबार…"

"पैसा कहो, पैसा। पैसा कमाने का सिर्फ एक तरीका है कि आदमी सिर्फ पैसा कमाये।"

"मैंने नाजायज ढंग से पैसा नहीं कमाया। परिवार का पालन-पोषण करने के लिए…"

"हर तरीका जायज है।"

"यह मैंने नहीं कहा।"

'नहीं, मैंने कहा है। पूंजीवादी समाज की सबसे बड़ी विशेषता यही है—नाजायज सिर्फ आदमी होना है, पैसा नहीं।"

"उफ?" कहकर अविजित ने दोनों हाथों से कनपटी की नसें दबा लीं।

"जमीर पर भारी पड़ रहा है?" आवाज ने छींटा कसा।

"नहीं", अविजित ने पूरी ताकत लगाकर प्रतिवाद किया, "दुख हो रहा है चड्ढा के मरने का। सरण ने आज से पहले कभी उसका जिक्र नहीं किया, वरना यह कभी न होता। अगली बार वह दफ्तर आया, तो धक्के मारकर निकाल दूंगा। रंगा सियार! बड़ा देश-सेवक बना घूमता है!"

तभी फोन की घंटी घनघना उठी।

अविजित ने चौंककर चोंगा उठा लिया।

आदतन वह फिर उस भारी-भरकम मेज के पीछे पड़ी रिवॉल्विंग कुर्सी में कैद हो गया।

फोन पर फोन आते चले गये।

अविजित की कनपटी की नस कुट-कुटकर कराहती रही।

हर खाली क्षण में वह सरण के विरुद्ध भड़कता रहा, अपने को भड़काता रहा।

घड़ी ने पांच बजा दिये। कुर्सी पीछे खिसकाकर अविजित उठ खड़ा हुआ।

तभी फोन एक बार और बजा। सिंघानिया जी बोल रहे थे। आवाज में खुशी और जोश था।

"अरे वसल, लो इस बार तुम्हारा काम हमने कर दिया। एक जबरदस्त सोर्स हाथ लगा है। मेरठ में कोई एक सज्जन हैं, गांधी संस्थान के व्यवस्थापक। पता चला है कि ऐसे लाइसेंस उन्हें मिल जाया करते हैं और

वे उन्हें 'प्रीमियम' पर बेच देते हैं। आधी रकम उनकी, आधी मंत्री जी की। मैं न कहता था, आदमी वह खेल गहरा खेलता है। बस, तुम आज ही मिलकर बात पक्की कर लो। सुना है, वह भी इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का पढ़ा हुआ है। नाम है—सरण कुमार। काम आसान हो गया न, क्यों?"

अविजित का शरीर नुकीली कीलों से जड़े सलीब पर टंग गया।

उसने साफ सुना, उसके भीतर से आवाज उभरी है, "मैं सरण के पास कभी नहीं जाऊंगा। लात मारता हूं मैं आपकी नौकरी को। अभी फौरन इस्तीफा दे रहा हूं।"

पर यह आवाज इतनी कमजोर थी कि उसके कानों तक पहुंचते ही टूट गयी, सिंघानिया जी तक नहीं पहुंची।

उन्होंने वही सुना, जो अविजित ने फोन पर उनसे कहा, "आप बेफिक्र रहिए। काम हो जायेगा।"

उसकी समझ में आ गया था, टोपी लगानी नहीं, तो उतारनी जरूर पड़ेगी।

तुक

अपने बारे में दो बातें आपको पहले ही बता दूं। पहली यह कि मैं उन बेवकूफ औरतों में से एक हूं, जो अपने पति को प्यार करती हैं। या कहना चाहिए कि मैं ही एक वह बेवकूफ औरत हूं, जो अपने पति को प्यार करती है। मेरी शादी को छह महीने हो चुके और इस बीच मैं बहुत-सी शादीशुदा औरतों से मिल चुकी हूं। अपने सिवा मुझे कोई औरत नहीं मिली, जो अपने पति को दिल से चाहती हो। मैं जानती हूं 'दिल से चाहना' एक ऐसा जुमला है, जिसे सुन-सुनकर हम आजिज आ चुके हैं। हर बाजारू किस्से, हर बम्बइया फिल्म में इसका बार-बार इस्तेमाल किया जाता है। पर इसका इस्तेमाल, चाहे वह कितना ही झूठा क्यों न हो, जुमले की सचाई को खत्म नहीं कर सकता। मेरी जान-पहचान की हर शादीशुदा औरत औरों को यह विश्वास दिलाने-दिलाते कि वह अपने पति को 'दिल से चाहती है' खुद उस पर विश्वास भले ही करने लगी हो, मन से वह जानती है और मैं भी जानती हूं कि ऐसा है नहीं।

पति का होना उनके लिए एक स्थिति है, जिसके भीतर से कुछेक और सुखदायक स्थितियां पैदा होती हैं : जैसे बच्चों का होना, घर का होना, घर में ढेरों काम का होना और अपनी तरह के जोड़ों के साथ सामाजिक ताल्लुकात का होना। पति का होना उनके लिए एक तरह का व्यवसाय है, जिसके माध्यम से उन्हें पैसा और व्यस्तता, दोनों मिलते हैं। आम व्यवसायों की तरह इसमें भी छोटी-मोटी उलझनें पैदा होती रहती हैं : कभी बच्चे बीमार हो जाते हैं, कभी चावल में पानी कम हो जाता है, तो

कभी सब्जी में नमक ज्यादा, और कभी अपनी तबीयत बिगड़ जाती है। और व्यवसायों की तरह, इसमें भी कभी ये उलझनें भीतर से न होकर बाहर के सामाजिक दबावों के कारण पैदा हो जाती हैं। जैसे तब, जब चीजों के दाम तेजी से बढ़ने लगते हैं या आम जरूरतों की चीजें बाजार से गायब होने लगती हैं। और फिर सास से खींचातानी चलना तो एक आम बात है ही। कभी पति जल्दी-जल्दी और जरूरत से ज्यादा प्यार करके थका देता है, तो कभी कई-कई दिन (रात) बिना प्यार के गुजार, ऊबा देता है।

पर ये उतार-चढ़ाव ऐसे नहीं होते, *जिनसे स्थिति के औसतन चरित्र* में कोई बदलाव आये या व्यवसाय के ही ठप हो जाने की नौबत आ जाए। यह व्यवसाय वाली बात अभी-अभी मेरी समझ में आयी है। और उसके साथ ही मैं यह भी समझ गयी हूं कि पति की खुशी-नाखुशी आकर्षण-विकर्षण, या रुचि-उदासीनता जैसे मेरे लिए जिन्दगी और मौत का सवाल बन जाती है, *उनके लिए क्यों नहीं बनती।*

एक मैं ही हूं, जो पति के दफ्तर से घर लौटने पर, उसके चेहरे से अपनी निगाहें हटा नहीं पाती। एक मैं ही हूं, जो प्याले में केतली से चाय डालते हुए या नमकीन की प्लेटें उसकी तरफ बढ़ाते हुए उसके चेहरे पर आ रहे हर भाव को पढ़ने की कोशिश करती रहती हूं। नतीजा यह होता है कि कभी मैं चाय छलका देती हूं तो कभी नमकीन छिटका देती हूं। और फिर अगर इसपर उसके माथे पर शिकन उभर आती है, तो मैं भीतर ही भीतर मर लेती हूं। एक मैं ही हूं। बस, और कोई औरत यह बेवकूफी नहीं करती।

दूसरी बात यह है कि मैं ताश नहीं खेल सकती। वाकई नहीं खेल सकती। ताश के पत्तों को सोच-सोचकर मेज पर डालना तो दरकिनार, हाथ में पकड़े-पकड़े उन्हें सिलसिलेवार लगाना भी मेरे लिए मुमकिन नहीं है। ताश खेलना मुझे पसन्द नहीं है या मुझे उससे नफरत है। यह कहने लायक हालत में भी मैं नहीं हूं। वह सब तय करने का मौका ही नहीं आ पाता। ताश के पत्ते हाथ में लेते ही मैं जड़ हो जाती हूं। शायद आप लोगों ने 'पार्किन्सन डिज़ीज (कंपाने वाले सरदे) का नाम न सुना हो। उसका मारा(आदमी)

अपने बदन की हरकतों को अपने काबू में नहीं रख पाता। कुछ हरकतें आपसे आप होती रहती हैं। और बीच-बीच में कुछ ऐसे कहर के लमहे भी आते हैं, जब वह कोई भी हरकत नहीं कर पाता। ताश के पत्ते हाथ में लेकर मुझपर यही कहर टूट पड़ता है। न मैं कुछ सोच पाती हूं न कर पाती हूं।

मेरा पति—उसका नाम नरेश है—स्टेट बैंक में चीफ अकाउण्टेण्ट है। वैसे मेरा नाम मीरा है, पर उसका कोई महत्व नहीं है। मेरा पति, नरेश काफी आकर्षक आदमी है। लम्बा-चौड़ा जिस्म, खूबसूरत चेहरा, सांवला रंग, पैनी काली आखें, लाल मांसल ओंठ और तीखी नाक। अगर उसका चेहरा सिर्फ मुझे खूबसूरत लगता तो आप कह सकते थे यह प्यार करने के कारण है। पर वह सचमुच खूबसूरत है। सभी कहते हैं।

बस, मुझे उसकी तीखी नाक पसन्द नहीं है। कई बार मैं सोचती हूं, अगर उसकी नाक तीखी न होकर चपटी रही होती, तो वह इतना कार्य-कुशल अकाउंटेंट नहीं बन पाता और तब वह मुझे इतना ही प्यार करता, जितना अब मैं उसे करती हू।

आप कहेंगे, यह बिल्कुल बेतुकी बात है। और आप ठीक कहेंगे। तीखी नाक खूबसूरती की पहली शर्त है। किसीसे भी पूछ देखिए, वह यही कहेगा। मैं जानती हू। अगर नरेश की नाक तीखी न होकर चपटी रही होती, तो लोग उसे कम खूबसूरत समझते। हो सकता था, वह खुद भी अपनेको कम खूबसूरत मानता। पर मुझे वह और भी खूबसूरत लगता और शायद तब वह मुझे उतना प्यार कर सकता, जितना मैं उसे करती हू। आप कहेंगे, मैं फिर वही बेतुकी बात दुहरा रही हूं।

मैं जानती हूं। यह भी जानती हूं कि मेरी बातों में तुक कम ही रहती है। नरेश की बातों की तुलना में बहुत कम। फिर भी मेरी बातें गलत नहीं होतीं। बल्कि कभी-कभी तो, मेरे न चाहने पर भी, सही निकल जाया करती हैं। खैर, जाने दीजिए।

मैं कह रही थी नरेश स्टेट बैंक में अकाउंटेंट है और बहुत कार्यकुशल है। आम तौर पर उम्मीद की जानी चाहिए, कम से कम मुझे शादी से पहले यह उम्मीद थी, कि जो आदमी सारा दिन अंकों में सिर खपाता रहता है,

वह उनसे छुट्टी पाने पर, शाम को कुछ और चाहेगा : सैर-सपाटा, खुला-मैदान, ताजी हवा, फूलों के बगीचे, प्यार की बातें, इधर-उधर की गप्पें, बाजार की रंगीनी, सजी-धजी दुकानें, चहल-पहल, खाना-पीना, फिल्म-थियेटर : कुछ भी, बस और अंक नहीं। पर ऐसा नहीं है। नरेश के लिए अंकों का आकर्षण कभी नहीं चुकता। वैसे ही, जैसे मेरे लिए नरेश का आकर्षण कभी नहीं चुकता।

शाम को दफ्तर से लौटकर, नहा-धो-खा चुकने पर नरेश को अगर कुछ ललचाता है, तो वह है, ताश का खेल। ऐसा-वैसा नहीं। बौद्धिक और तार्किक लोगों का खेल—यानी ब्रिज। ब्रिज के खेल में नरेश को महारत हासिल है। अपने इस छोटे शहर का तो वह चैंपियन बन ही चुका। अब डिस्ट्रिक्ट चैम्पियन बनने की सुखद योजना दिमाग में है। और उसके लिए वह कहता है, रोजाना नियमित रूप से प्रैक्टिस करने की जरूरत है।

क्लब हमारे घर से कुछ दूरी पर है। इसलिए रोज शाम को हम लोग गाड़ी में बैठकर वहां जाते हैं। करीब पन्द्रह मिनट का रास्ता है। इन पन्द्रह मिनटों के अलावा, नरेश अपनी व्यस्त दिनचर्या में से और पन्द्रह मिनट का समय निकालकर पिछले दिनों मुझे गाड़ी चलाना सिखाता रहा है। कम ही दिनों के अभ्यास के बाद मुझे गाड़ी चलानी आ गयी है। यह बहुत अचरज की बात है, नरेश कहता है, क्योंकि तीन-चार महीनों की कोशिश के बाद भी मुझे ब्रिज खेलना नहीं आ पाया है। नरेश की बहुत इच्छा थी मुझे ब्रिज सिखलाने की। तब, वह कहता था, खेल चुकने पर जब वह अपनी जीत का विश्लेषण मेरे सामने करेगा, तो मैं बेवकूफ की तरह उसकी तरफ ताकते रहने के बजाय खेल की खूबसूरत बारीकियों में रस ले सकूंगी।

पर यह अब तक नहीं हो पाया है। मैंने नरेश को समझाने की कोशिश की है कि ताश के पत्ते हाथ में लेते ही मैं जड़ हो जाती हूं और चाहने पर भी मेरा दिमाग या बदन हरकत नहीं कर पाता। पर वह इसे मेरी जिद बतलाता है। उसका खयाल है, मैं जानबूझकर खेल को समझने से इनकार करती हूं।

"यह कैसे हो सकता है?" महीने-भर मेरे साथ झक मारने के बाद उसने कहा था, "जो औरत दस दिन में गाड़ी चलाना सीख सकती है, वह

महीने-भर में ब्रिज के रूल्स तक नहीं समझ सकती ?"

"ताश के पत्ते हाथ में लेकर मुझे कुछ हो जाता है," मैंने कहा था।

"कुछ हो जाता है? वाह, क्या खूब वजह बतलायी है। क्या हो जाता है, यह भी तो सुनें," उसने हंसकर कहा था, पर उसकी हंसी उसकी नाक की तरह तीखी थी।

"मैं जड़ हो जाती हूं।" मैंने हकलाते हुए कहा था।

"कैसे ?" उसने सवाल किया था, ठीक किसी वकील की तरह। और उसकी पैनी आंखों में एक वहशी-सी चमक आ गयी थी।

"वह···जैसे पार्किन्सन्स डिजीज से पीड़ित आदमी का बदन हरकत करने से इनकार कर देता है न ···"

मैंने अपनी बात अच्छी तरह समझाकर कही थी, पर सुनकर वह भड़क उठा था।

"इतनी बेतुकी बात मैंने अपनी जिन्दगी में पहले कभी नहीं सुनी !" उसने तीखे स्वर में कहा था, "तुम्हें तो पार्किन्सन्स डिजीज नहीं है ?"

"नहीं, है तो नहीं ··पर···" समझा न पाने के कारण नहीं, उसे नाराज देखकर मेरी आवाज रुंध गयी थी और मैं आगे बोल नहीं पाई थी।

"पर क्या ?" उसने जिरह जारी रखी थी, "पर क्या ? बोलती क्यों नहीं ?"

मैं कुछ कह नहीं पाई थी, आंखों में आ गये आंसू भी नहीं रोक पाई थी। वे टप-टपकर मेरे गालों पर गिरने लगे थे।

"अब रो किसलिए रही हो ?" उसने बेहद खीज-भरे स्वर में कहा था, "कोई तुक भी हो। जवाब नहीं सूझा तो रोना शुरू कर दिया।"

और तब मैं और भी बेतुकी बात कह बैठी थी।

"मैं तुम्हें प्यार करती हूं," थर-थर करते गले से मैंने कहा था।

यह सुनकर, जिरह जारी रखने को तैयार उसकी तीखी नाक जैसे हड़बड़ाकर कुछ नीचे झुक गयी थी और उसने अपनी सख्त आवाज को नरम बनाकर कहा था, "लो···फिर अच्छा ही तो है।"

इतना ही नहीं, उसने अपना हाथ आगे बढ़ाकर मेरा कन्धा भी थपथपा दिया था।

उस दिन के बाद भी नरेश मुझे ब्रिज सिखलाने की कोशिश करता रहा था। मैंने भी पत्ते हाथ में लेकर अपने सुन्न दिमाग मे हरकत पैदा करने की ईमानदार कोशिश की थी, पर हम दोनों की कोशिश नाकाम रही थी। और फिर धीरे-धीरे, नरेश ने ही कोशिश छोड़ दी थी।

पर ब्रिज खेलना उसने नहीं छोड़ा और न खेल देखने मुझे अपने साथ ले जाना। मैंने भी उसे प्यार करना नहीं छोड़ा।

बल्कि खेल सीखने-सिखलाने की कोशिश छूटने के फौरन बाद तो मेरा हौसला कुछ ज्यादा ही बुलन्द हो गया और मैं प्यार को दांव पर लगाकर और ही खेल खेलने की कोशिश कर उठी।

नरेश जब दफ्तर से लौटता, तो मैं प्यार की तमाम अदाओं का इस्तेमाल कर उसे मोहित करने की कोशिश करती। बहला-फुसलाकर पहले उसे बाहर घुमा लाने का प्रयास करती और फिर अपने साथ बिस्तर पर ले जाने का।

बतलाने की जरूरत नहीं है कि उसे ब्रिज की मेज से दूर रखने के लिए मैं रोज नये तरीके से अपनी अवमानना करती। पारदर्शी नाइटी पहनकर दरवाजा खोलना, उसके सामने घुटनों पर गिरकर उसके जूते खोल देना, पैरों से लेकर चेहरे तक चुम्बनों की बौछार करना, उसकी गोदी में बैठकर अपने हाथों से उसे लजीज पकवानों के निवाले खिलाना, आंखों में आंसू भर कर ठण्डी हवा में घूम आने की मनुहार करना, उसके सामने अपने जिस्म के हर खूबसूरत कोण का प्रदर्शन कर उसे निमंत्रण देना : सभी कुछ मैं करती थी। हां, मैं यह बतलाना तो भूल ही गयी थी कि मैं भी काफी सुन्दर मानी जाती हूं। खैर, इतना सब करके मैं हफ्ते में दो-तीन दिन उसे क्लब जाने से रोक लेती थी।

पर दो-तीन हफ्तों में ही इस खेल के लिए मेरा उत्साह ठण्डा पड़ने लगा। मेरा प्यार-भरा आत्म-तिरस्कार उसे इतना उत्तेजित तो अवश्य कर देता कि वह चटपट मुझसे प्यार कर डालता, पर करता वह निहायत ठण्डेपन से। मुझे लगता एहसास करने की भावना से प्रेरित हो, वह एक ऊंचाई से मेरी तरफ झुकता है और मुझे प्यार करके अलग हो जाता है। मेरी असन्तुष्ट देह पिटी-सी पड़ी रहती है और मैं अगले दिन के अपने

अपमान की योजना बनाने लगती हूं।

और एक हफ्ता गुजर जाने पर मैंने पाया कि मुझे प्यार करने के फौरन बाद ही, वह अपनी मैच हारजीतों में हुए, ब्रिज के गेम के बारे में कयास लगाने लगा है। और फिर कल तो, वह जैसे ही मुझे प्यार कर चुका, वैसे ही, कपड़े पहनकर क्लब चला गया।

कल क्लब जाते हुए पहली बार उसने मुझसे साथ चलने के लिए नहीं कहा। और कल क्लब से लौटकर पहली बार उसने अपने मुंह से कहा कि वह ब्रिज के खेल में हार कर घर लौटा है और यह कहकर वह भूखे भेड़िये की तरह मुझपर टूट पड़ा। बिस्तर पर मेरी देह अभी तक वैसी ही नग्न पड़ी थी जैसी वह छोड़कर गया था। अपनी हार का तमाम गुस्सा उसने मुझपर उतारा। उसके नाखूनों और दांतों के निशान मेरे ओठों, कन्धों, वक्ष और पीठ पर उभर आये। अब तक उसे आकर्षित करने के लिए मैं अपनी देह को स्वयं प्रताड़ित करती रही थी, पर उसमें इतनी तीव्र उत्तेजना नहीं जगा पाई थी जितनी आज विकर्षण ने पैदा कर दी थी। अब चुम्बनों से वह मेरी देह को प्रताड़ित कर रहा था, पर यह विकर्षण तब उसमें मेरा जगाया हुआ नहीं था। यह ब्रिज के खेल से जन्मा था।

ब्रिज के गेम में जीतकर ही वह मुझे प्यार करता था। मेरी पहल के बिना। कल की तरह तब भी वही पहल करता था। पर तब मेरा शरीर जीत में मिला पुरस्कार होता था।

अपने खेल की खूबियां बतलाते-बतलाते, वह सहसा उत्तेजित होकर एक झटके में, मेरे बदन से मेरे कपड़े अलग कर देता था और मुझपर टूट पड़ता था। पर तब उसमें विजेता का दर्प लहरा रहा होता था, पराजित की क्रूरता नहीं। ब्रिज के बेहतरीन हाथ की तरह, वह मेरी देह को सहला-सहेज कर अपनी जरूरत के मुताबिक इस्तेमाल में लाता था। तब उसमें बड़प्पन से पैदा हुआ अनुकम्पा का भाव जरूर रहता था, पर याचक को भीख देने की ठण्डी दया नहीं। वह घिनौनी दया, जो पिछले दिनों ब्रिज न मिल पाने पर, उसके प्यार करने में रही थी।

कल की बात बिल्कुल अलग थी। कल वह ब्रिज खेला तो था, पर विजय नहीं पा सका था। कल उसका दर्प चूर-चूर हो गया था, बड़प्पन

"अंग्रेज गये, स्वराज्य आ चुका, फिर गांधी टोपी लगाने की क्या तुक हुई भला ?"

"क्यों ? सभी तो लगाते हैं।"

"सभी नेता लगाते हैं। पर तू तो नेता नहीं है।"

"नेता गांधी जी थे, हम टोपी लगाते हैं।" सरण ने मासूमियत से कहा।

अविजित बेसाख्ता हंस पड़ा।

"इसमें हंसने की क्या बात है ?" सरण ने बुरा मानकर कहा, "एक वक्त था, जब तू भी खादी के कपड़े पहनता था और गांधी टोपी लगाता था, याद नहीं ?"

"हां, तब ये विरोध के प्रतीक थे। अब नहीं हैं। आजकल जब हम खुद मिलों में कपड़ा बना रहे हैं, दुकानों पर पिकेटिंग करके विदेशी माल जला नहीं रहे, तब यह लगाकर घूमने का मकसद ?"

"हम तो भइया, गांधी जी को मानते हैं। गांधी जी ने कहा था, स्वदेशी के बिना स्वतंत्रता किसी काम की नहीं है। खादी बुनना छोड़ दोगे, तो स्वराज्य भी नहीं रहेगा।"

"और ये जो इतनी बड़ी-बड़ी मिलें खोली जा रही हैं, उनका बुना कपड़ा कौन पहनेगा ?"

"पहनो तुम।"

"यानी मेरे पहनने में हर्ज नहीं है। है न ?" अविजित फिर हंस दिया।

सरण नाराज हो गया।

"तुम लोग सदा मुझपर हंसते रहे, पर बात मेरी ही ठीक निकली, हर बार। अच्छा तू बतला, जिसने देश की सेवा की होगी, वह चाहेगा नहीं कि लोग जानें, वह देश-सेवक है। सूट पहनने पर कौन विश्वास करेगा ?"

"और कोई देश-सेवा किये बगैर गांधी टोपी लगाकर खादी पहन ले तो ?"

"क्यों पहनेगा भला ? हां, यह हो सकता है कि किसी कारण पहले दिनों में देश का काम न कर पाया हो और अब करने का इरादा रखता हो।"

अविजित जानता है, सरण से बहस करना बेकार है। उसमें यह सिफत

है कि आप तर्क चाहे जो दे लें, उनके जवाब यही रहते हैं। पर उसे छेड़ने में अविजित को मजा आ रहा था, इसीलिए उसने कहा, "ऐसा कर, इस बार तू इलेक्शन में खड़ा हो जा।"

"इलेक्शन में खड़ा होना होता, तो बावन में ही न हो जाता, अपने पंत जी ने कितना कहा, विधानसभा में आ जाओ, मंत्री-पद संभालो, पर हमने मना कर दिया। अपन ठहरे सीधे-सादे आदमी, सरकार चलाना अपने बस की बात नहीं है।"

"फिर तो तेरा टोपी पहनना बेकार रहा।" अविजित ने टोका।

"अपना काम तो सेवा करना है, भाई," सरण ने उसकी बात अनसुनी करते हुए कहा, "आज़ादी मिलने पर जो सीमेंट एजेंसी सरकार ने हमें दी थी, वह भी हमने छोटे भाई को दे डाली। पेट्रोल पंप का लाइसेंस मिला, तो लड़का कहने लगा, 'मैं चला लूंगा।' मैंने कहा, 'ठीक है भइया चला लो, अपने बस का तो यह रोग है नहीं।' हां, सरकार ने गांधी संस्थान चलाने को नियुक्त कर दिया, तो राम आ गया अपनको। छह बरस हो गये, आनंद ही आनंद है।"

"सीमेंट की एजेंसी, पेट्रोल पंप का लाइसेंस, और कुछ भी दिया सरकार ने?"

"हां," बिना हिचक सरण बोला, "स्टील का कोटा मिला था। पत्नी ने कहा, 'बच्चे बड़े हो गये, वक्त काटे नहीं कटता, कहो तो स्टील के बर्तनों की छोटी-सी फैक्टरी खोल लूं।' मैंने कहा, 'खोल लो देवी, हम तो स्त्री-पुरुष को समवधा मानते हैं।'"

अविजित निरुत्तर रह गया।

आगे केवल यही पूछा, "चाय पियोगे?"

"पी लूंगा," सरण ने तटस्थ भाव से कहा, "एकाध कप ले लेता हूं कभी-कभार।"

इत्मीनान से चाय पीकर सरण ने झोला संभाला और दरवाजे की तरफ बढ़ गया। अविजित ने सबसे ऊपर वाली फाइल सामने सरका ली।

दरवाजे पर पहुंचकर सरण सहसा पलटा और बोला, "अपने साथ एक बद्दा हुआ करता था, याद है?"

"हां-हां।" अविजित ने तुरंत कहा। यूनिवर्सिटी में चड्ढा उसके सबसे अजीज दोस्तों में से था।

"बेचारा चल बसा।"

"क्या !" अविजित उठकर खड़ा हो गया, "कब ?"

"आज सुबह किरिया करके ही तो चला दिल्ली के लिए।" सरण ने कहा।

"आज ! सुबह ! पहले क्यों नहीं बतलाया ?"

"क्यों, पहले बतलाने से तू क्या करता ?"

"इतनी देर यहां बैठा हंसी-ठट्ठा करता रहा, उसका मरना याद तक नहीं रहा !"

"हंसी-ठट्ठा मैंने तो नहीं किया।" सरण ने कहा।

हां, हंसा सिर्फ अविजित था।

वह वापस कुर्सी में धंस गया।

"क्या हुआ था उसे ?" सूखे गले से पूछा।

"बेचारा बड़ी तंगहाली में मरा। मैंने कितना कहा, 'चलो सरकारी अस्पताल में भर्ती करवा दूं,' पर वह माना ही नहीं।"

"हुआ क्या था ?" अविजित ने बाधा दी।

"होना क्या था, एक गुर्दा तो तभी खराब हो गया था, जब उन्नीस सौ बयालीस में जेल गया···इलाज कुछ हुआ नहीं···बस···अब दूसरा गुर्दा भी जवाब दे गया।"

"वह मेरठ ही में था ?"

"हां।"

"तूने कभी उसके बारे में बतलाया नहीं ?"

"तूने पूछा कब ?"

',मुझे पता नहीं था, वह मेरठ में है।"

"पता मुझे भी नहीं था। करने से चल गया। बाद में भले ही गलत रास्ते पर पड़ गया हो, एक वक्त में था तो हमारा ही साथी।"

"गलत रास्ते पर वह कब पड़ा ?"

"१९४२ में छिपकर काम कर रहा था।"

"तो ?"

"गांधी जी ने छिपकर काम करने को गलत बतलाया था। उन्होंने सभी भूमिगत विद्रोहियों को राय दी थी कि वे सरकार के आगे समर्पण कर दें।"

"वे जानते भी थे, उन लोगों के साथ जेलों में क्या सुलूक किया जाता है ? उनके खुद के साथ कभी कोई जुल्म हुआ नहीं, इसीसे···"

"नहीं हुआ, क्योंकि अहिंसा से उत्पन्न उनकी नैतिक शक्ति के सामने ब्रिटिश सरकार भी नतमस्तक थी।"

"तुम जानते हो, चड्ढा के साथ फतेहगढ़ जेल में क्या हुआ ?"

"जानता क्यों नहीं। मैं तो खुद तुम्हें बतला रहा था।"

"जानते हुए भी तुमने उसे बिना इलाज मर जाने दिया ?"

"मैंने ? मैंने तो भइया उसे बचाने की बहुत कोशिश की। कितनी बार कहा, 'सरकार के नाम अर्जी दे दो। बाद में जो हुआ हो, बत्तीस में तो गांधी जी के सविनय-आज्ञा-भंग आंदोलन में हिस्सा लिया ही था और दो बरस जेल भी काट आये थे, इलाज का इंतजाम जरूर हो जायेगा···मैं खुद सिफारिश कर दूंगा', पर वह माना ही नहीं। अब मैं···"

"शट-अप !" अविजित ने तड़पकर कहा, "और···चले जाओ यहां से।"

"ठीक है," सरण ने कहा, "पर यह जरूर सोच रखना, तुमने खुद क्या किया उसके लिए !"

अविजित के पास कोई जवाब नहीं था।

सरण कमरे से बाहर चला गया।

चड्ढा बिना इलाज मर गया और उसका बीस हजार रुपया अविजित के पास पड़ा है।

बारह साल पहले का दृश्य अविजित की आंखों के सामने साकार हो गया। १९४२ का अगस्त खत्म होने को था, जब शाम के घिरते झुटपुटे में नुकीली छोटी दाढ़ी और पादरी के लबादे के पीछे छिप चड्ढा उसके घर आ पहुंचा था। "पुलिस मेरे पीछे है। लगता है, अब मैं जल्दी गिरफ्तार हो जाऊंगा।" उसने कहा था।

"मैं कुछ कर सकता हूं तेरे लिए ?" अविजित ने पूछा था।

"इसीलिए तो आया हूं। तुझपर कोई शक नहीं करेगा।" उसने कहा था।

"क्यों नहीं करेगा ?" अविजित को उसका संकेत बींध गया था, "मेरा रिकार्ड काफी खराब है।"

यह ठीक था कि १९४२ में वह एक प्रतिष्ठित उद्योगपति के यहां ऊंची पोस्ट पर काम कर रहा था, पर दस साल पहले विद्यार्थी-जीवन में दो बरस की जेल भी तो काट आया था।

"इसीलिए तो आया हूं," चड्ढा ने मुस्कराकर दोहराया था, "मुझे ऐसे आदमी की जरूरत है, जिसपर न मुझे शक हो, न सरकार को।"

"करना क्या है ?" उसने पूछा था।

"यह रुपया और कागज रख ले, बस। पकड़ा नहीं गया, तो खतरा कम होने पर खुद ले जाऊंगा, वरना हमारा कोई आदमी। पासवर्ड होगा—पीला साफा।" चड्ढा ने मतलब की बात के अलावा उसे कुछ नहीं बतलाया था, पर जाहिर था कि वह किसी भूमिगत दल के लिए काम कर रहा है।

अविजित ने रुपया रख लिया था।

उसके बाद···जब-जब चड्ढा मिला, रुपया उसे देना चाहा, पर उसने लिया नहीं, पहली बार मिला था, १९४५ में, फतेहगढ़ जेल से छूटने पर, हड्डियों का ढांचा और एक टांग पर लंगड़ाता हुआ।

"यह क्या हाल हो गया तेरा ?" अविजित कह उठा था।

"अब यार, इकलाबी शौक फरमायेंगे, तो कुछ न कुछ तो होगा ही।" कहकर चड्ढा ठठाकर हंस दिया था और थककर देर तक निढाल पड़ा रहा था। अविजित खामोश रहा था।

"अच्छा, यह बतला," चड्ढा ने मुस्ताकर कहा था, "हमने लड़ाई बंद क्यों कर दी ? ब्रिटेन अपनी लड़ाई जीत गया, पर हम ?···गांधी जी ने कहा, 'करो या मरो,' और जब जनता कर गयी, तो कह दिया, 'इस आंदोलन से हमारा कोई संबंध नहीं है। क्यों ?"

क्यों का जवाब अविजित के पास नहीं था।

पहले वह पूछता था, मैं क्यों नहीं ?

अब वह पूछने लगा है, मैं ही क्यों ?

जो ठोस था, उसीको थामकर उसने कहा था, "तेरा रुपया मेरे ही पास है।"

"रहने दे," चड्ढा ने कहा था, "रुपया मेरा नहीं, दल का था और दल अब तितर-बितर हो चुका है।"

"तो क्या करें रुपये का ?"

"रख अभी। देखें आगे क्या होना है।"

उसके बाद चड्ढा मिला था १९५० में, आजादी मिलने के तीन साल बाद।

"तेरा रुपया···"अविजित ने फिर कहा था।

"मेरा नहीं, दल का।" उसने कहा था।

"हां, पर अब तो दल के लोग भूमिगत नहीं हैं। रुपया लेकर आपस में बांट लो।"

"किस हिसाब से ?" चड्ढा ने पूछा था, "रुपया हम लोगों ने अपने लिए नहीं, दल के काम के लिए जमा किया था।"

"फिर···यूं ही बेकार पड़ा रहेगा रुपया ? कुछ तो करना ही होगा।"

"आदमी बेकार पड़ा रह सकता है, रुपया नहीं ?"

"पर···मुझे तो उबार इस जिम्मेवारी से बतला क्या करूं उसका ?"

"किसी संस्था को दान कर दे।"

"किसे ?"

"मैं क्या जानूं।"

दो क्षण चुप रहकर चड्ढा सहसा तल्खी से कह उठा था, "कांग्रेस के इलेक्शन फंड में दे देना।"

तब से आज तक चड्ढा से मिलना नहीं हुआ।

रुपया अभी भी उसके पास है। सूद मिलाकर तीस हजार हो गया। कहीं दान नहीं दिया। सोचा था, शायद कभी जरूरत हो और चड्ढा मांगने आये। सच, यही बात थी, और कुछ नहीं···

अविजित के लिए कुर्सी पर बैठे रहना नामुमकिन हो गया। हजारों काटे उग आये उसमे। शरीर के रोम-छिद्रों मे गड़ने लगे। वह उठा और कमरे के फर्श को रौंदने लगा। दस कदम आगे···दस कदम पीछे···आगे···पीछे···कोई फायदा नही···काटे उसके शरीर मे उगे हैं, कुर्सी में नही।

कितने दिन रुपया बेकार बैंक में पड़ा रहा···फिर···अविजित मकान बनवा रहा था, रुपये की जरूरत थी। उसने वह रुपया मकान में लगवा दिया। सिर्फ उधार लिया था। दो साल के अन्दर पूरा रुपया लौट आया था बैंक में···चड्ढा लेने आता, तो सूद समेत उसे लौटा देता। सच। जिस सस्था को वह कहता, दान कर देता। बिलकुल। उसने कुछ कहा ही नही।

"मैं नहीं जानता था वह मेरठ मे है···मैं बिलकुल नहीं जानता था, वह तंगी में है, बीमार है, उसे इलाज की जरूरत है ··जानता तो जरूर उसके पास जाता, उसका इलाज कराता···सच···मैं···करता···जरूर···" अविजित की आवाज कमजोर पड़ती गयी और एक अन्य स्वर उसके भीतर पनप उठा···

"पिछली बार जब चड्ढा मिला था, तो उससे पूछा था, वह कहां रहता है ?"

"हां, पूछा था। बिलकुल पूछा था," कमजोर आवाज ने जवाब दिया, "तब वह इलाहाबाद मे एक पत्रिका का सपादन कर रहा था। यही जानने को तो पूछा था कि आमदनी का जरिया क्या है उसके पास ?"

"पत्रिका को लिखते, तो पता न चल जाता, वह किधर गया !"

"हां, पर···मैंने दो-तीन खत उसे लिखे। जवाब नही आया, तो मैंने सोचा, वह ताल्लुकात रखना नहीं चाहता···अब किसीसे जबरदस्ती तो दोस्ती रखी नही जा सकती।"

"पत्रिका में किसी दूसरे संपादक का नाम छपा देखकर क्या सोचा, चड्ढा मर गया ?"

"नही-नही, मैंने पत्रिका देखी ही नही। सच, मुझे पता नही चला, चड्ढा कब नौकरी या इलाहाबाद छोड़ गया।"

"और पता करने की जरूरत भी महसूस नही की ?"

"मैं इतना व्यस्त रहा···घर···परिवार···दफ्तर···कारोबार···"

"पैसा कहो, पैसा। पैसा कमाने का सिर्फ एक तरीका है कि आदमी सिर्फ पैसा कमाये।"

"मैंने नाजायज ढग से पैसा नहीं कमाया। परिवार का पालन-पोषण करने के लिए···"

"हर तरीका जायज है।"

"यह मैंने नहीं कहा।"

'नही, मैंने कहा है। पूंजीवादी समाज की सबसे बड़ी विशेषता यही है—नाजायज सिर्फ आदमी होना है, पैसा नहीं।"

"उफ?" कहकर अविजित ने दोनों हाथों से कनपटी की नसें दबा लीं।

"ज़मीर पर भारी पड़ रहा है?" आवाज ने छींटा कसा।

"नहीं", अविजित ने पूरी ताकत लगाकर प्रतिवाद किया, "दुख हो रहा है चड्डा के मरने का। सरण ने आज से पहले कभी उसका जिक्र नहीं किया, वरना यह कभी न होता। अगली बार वह दफ्तर आया, तो धक्के मारकर निकाल दूगा। रगा सियार! बड़ा देश-सेवक बना घूमता है!"

तभी फोन की घंटी घनघना उठी।

अविजित ने चौंककर चोगा उठा लिया।

आदतन वह फिर उस भारी-भरकम मेज के पीछे पड़ी रिवॉल्विग कुर्सी में कैद हो गया।

फोन पर फोन आते चले गये।

अविजित की कनपटी की नस कुट-कुटकर कराहती रही।

हर खाली क्षण मे वह सरण के विरुद्ध भड़कता रहा, अपने को भड़-काता रहा।

घड़ी ने पांच बजा दिये। कुर्सी पीछे खिसकाकर अविजित उठ खड़ा हुआ।

तभी फोन एक बार और बजा। सिंघानिया जी बोल रहे थे। आवाज मे खुशी और जोश था।

"अरे असल, लो इस बार तुम्हारा काम हमने कर दिया। एक जबर-दस्त सोर्स हाथ लगा है। मेरठ मे कोई एक सज्जन हैं, गाधी सस्थान के व्यवस्थापक। पता चला है कि ऐसे लाइसेंस उन्हें मिल जाया करते हैं और

ये उन्हें 'प्रीमियम' पर बेच देते हैं। आधी रकम उनकी, आधी मंत्री जी की। मैं न कहता था, आदमी वह खेल गहरा खेलता है। बस, तुम आज ही मिलकर बात पक्की कर लो। सुना है, वह भी इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का पढ़ा हुआ है। नाम है—सरण कुमार। काम आसान हो गया न, क्यों?"

अविजित का शरीर नुकीली कीलों से जड़े सलीब पर टंग गया।

उसने साफ सुना, उसके भीतर से आवाज उभरी है, "मैं सरण के पास कभी नहीं जाऊंगा। लात मारता हूं मैं आपकी नौकरी को। अभी फौरन इस्तीफा दे रहा हूं।"

पर यह आवाज इतनी कमजोर थी कि उसके कानों तक पहुंचते ही टूट गयी, सिंघानिया जी तक नहीं पहुंची।

उन्होंने वही सुना, जो अविजित ने फोन पर उनसे कहा, "आप बेफिक्र रहिए। काम हो जायेगा।"

उसकी समझ में आ गया था, टोपी लगानी नहीं, तो उतारनी जरूर पड़ेगी।

तुक

अपने बारे में दो बातें आपको पहले ही बतला दूं। पहली यह कि मैं उन बेवकूफ औरतों में से एक हूं, जो अपने पति को प्यार करती हैं। या कहना चाहिए कि मैं ही एक वह बेवकूफ औरत हूं, जो अपने पति को प्यार करती है। मेरी शादी को छह महीने हो चुके और इस बीच में बहुत-सी शादीशुदा औरतों से मिल चुकी हूं। अपने सिवा मुझे कोई औरत नहीं मिली, जो अपने पति को दिल से चाहती हो। मैं जानती हूं 'दिल से चाहना' एक ऐसा जुमला है, जिसे सुन-सुनकर हम आजिज आ चुके हैं। हर बाजारू किस्से, हर बम्बइया फिल्म में इसका बार-बार इस्तेमाल किया जाता है। पर इसका इस्तेमाल, चाहे वह कितना ही झूठा क्यों न हो, जुमले की सचाई को खत्म नहीं कर सकता। मेरी जान-पहचान की हर शादीशुदा औरत औरों को यह विश्वास दिलाते-दिलाते कि वह अपने पति को 'दिल से चाहती है' खुद उसपर विश्वास भले ही करने लगी हो, मन से वह जानती है और मैं भी जानती हूं कि ऐसा है नहीं।

पति का होना उनके लिए एक स्थिति है, जिसके भीतर से कुछेक और सुखदायक स्थितियां पैदा होती हैं : जैसे बच्चों का होना, घर का होना, घर में ढेरों काम का होना और अपनी तरह के जोड़ों के साथ सामाजिक ताल्लुकात का होना। पति का होना उनके लिए एक तरह का व्यवसाय है, जिसके माध्यम से उन्हें पैसा और व्यस्तता, दोनों मिलते हैं। आम व्यवसायों की तरह इसमें भी छोटी-मोटी उलझनें पैदा होती रहती हैं : कभी बच्चे बीमार हो जाते हैं, कभी चावल में पानी कम हो जाता है, तो

कभी सब्जी में नमक ज्यादा, और कभी अपनी तबीयत बिगड़ जाती है। और व्यवसायों की तरह, इसमें भी कभी ये उलझनें भीतर से न होकर बाहर के सामाजिक दबावों के कारण पैदा हो जाती हैं। जैसे तब, जब चीजों के दाम तेजी से बढ़ने लगते हैं या आम जरूरतों की चीजें बाजार से गायब होने लगती हैं। और फिर बास से खींचातानी चलना तो एक आम बात है ही। कभी पति जल्दी-जल्दी और जरूरत से ज्यादा प्यार करके थका देता है, तो कभी कई-कई दिन (रात) बिना प्यार के गुजार, ऊबा देता है।

पर ये उतार-चढ़ाव ऐसे नहीं होते, जिनसे स्थिति के औसतन चरित्र में कोई बदलाव आये या व्यवसाय के ही ठप हो जाने की नौबत आ जाए। यह व्यवसाय वाली बात अभी-अभी मेरी समझ में आयी है। और उसके साथ ही मैं यह भी समझ गयी हूं कि पति की खुशी-नाखुशी आकर्षण-विकर्षण, या रुचि-उदासीनता जैसे मेरे लिए जिन्दगी और मौत का सवाल बन जाती है, उनके लिए क्यों नहीं बनती।

एक मैं ही हूं, जो पति के दफ्तर से घर लौटने पर, उसके चेहरे से अपनी निगाहें हटा नहीं पाती। एक मैं ही हूं, जो प्याले में केतली से चाय डालते हुए या नमकीन की प्लेटें उसकी तरफ बढ़ाते हुए उसके चेहरे पर आ रहे हर भाव को पढ़ने की कोशिश करती रहती हूं। नतीजा यह होता है कि कभी मैं चाय छलका देती हूं तो कभी नमकीन छिटका देती हूं। और फिर अगर इसपर उसके माथे पर शिकन उभर आती है, तो मैं भीतर ही भीतर मर लेती हूं। एक मैं ही हूं। बस, और कोई औरत यह बेवकूफी नहीं करती।

दूसरी बात यह है कि मैं ताश नहीं खेल सकती। वाकई नहीं खेल सकती। ताश के पत्तों को सोच-सोचकर मेज पर डालना तो दरकिनार, हाथ में पकड़े-पकड़े उन्हें सिलसिलेवार लगाना भी मेरे लिए मुमकिन नहीं है। ताश खेलना मुझे पसन्द नहीं है या मुझे उससे नफरत है। यह कहने लायक हालत में भी मैं नहीं हूं। वह सब तय करने का मौका ही नहीं आ पाता। ताश के पत्ते हाथ में लेते ही मैं जड़ हो जाती हूं। शायद आप लोगों ने 'पार्किन्सन डिजीज (कंपाने वाले लकवे) का नाम न सुना हो। उसका मारा(आदमी)

अपने बदन की हरकतों को अपने काबू में नहीं रख पाता। कुछ हरकतें आपसे आप होती रहती हैं। और बीच-बीच में कुछ ऐसे कहर के लमहे भी आते हैं, जब वह कोई भी हरकत नहीं कर पाता। ताश के पत्ते हाथ में लेकर मुझपर यही कहर टूट पड़ता है। न मैं कुछ सोच पाती हूं न कर पाती हूं।

मेरा पति—उसका नाम नरेश है—स्टेट बैंक में चीफ अकाउण्टेण्ट है। वैसे मेरा नाम मीरा है, पर उसका कोई महत्त्व नहीं है। मेरा पति, नरेश काफी आकर्षक आदमी है। लम्बा-चौड़ा जिस्म, खूबसूरत चेहरा, सांवला रंग, पैनी काली आंखें, लाल मांसल ओंठ और तीखी नाक। अगर उसका चेहरा सिर्फ मुझे खूबसूरत लगता तो आप कह सकते थे यह प्यार करने के कारण है। पर वह सचमुच खूबसूरत है। सभी कहते हैं।

बस, मुझे उसकी तीखी नाक पसन्द नहीं है। कई बार मैं सोचती हूं, अगर उसकी नाक तीखी न होकर चपटी रही होती, तो वह इतना कार्य-कुशल अकाउंटेंट नहीं बन पाता और तब वह मुझे इतना ही प्यार करता, जितना अब मैं उसे करती हूं।

आप कहेंगे, यह बिल्कुल बेतुकी बात है। और आप ठीक कहेंगे। तीखी नाक खूबसूरती की पहली शर्त है। किसीसे भी पूछ देखिए, वह यही कहेगा। मैं जानती हूं। अगर नरेश की नाक तीखी न होकर चपटी रही होती, तो लोग उसे कम खूबसूरत समझते। हो सकता था, वह खुद भी अपनेको कम खूबसूरत मानता। पर मुझे वह और भी खूबसूरत लगता और शायद तब वह मुझे उतना प्यार कर सकता, जितना मैं उसे करती हूं। आप कहेंगे, मैं फिर वही बेतुकी बात दुहरा रही हूं।

मैं जानती हूं। यह भी जानती हूं कि मेरी बातों में तुक कम ही रहती है। नरेश की बातों की तुलना में बहुत कम। फिर भी मेरी बातें गलत नहीं होतीं। बल्कि कभी-कभी तो, मेरे न चाहने पर भी, सही निकल जाया करती हैं। खैर, जाने दीजिए।

मैं कह रही थी नरेश स्टेट बैंक में अकाउंटेंट है और बहुत कार्यकुशल है। आम तौर पर उम्मीद की जानी चाहिए, कम से कम मुझे शादी से पहले यह उम्मीद थी, कि जो आदमी सारा दिन अंकों में सिर खपाता रहता है,

वह उनसे छुट्टी पाने पर, शाम को कुछ और चाहेगा : सैर-सपाटा, खुला-मैदान, ताजी हवा, फूलों के बगीचे, प्यार की बातें, इधर-उधर की गप्पें, बाजार की रंगीनी, सजी-धजी दुकानें, चहल-पहल, खाना-पीना, फिल्म-थियेटर : कुछ भी, बस और अंक नहीं। पर ऐसा नहीं है। नरेश के लिए अंकों का आकर्षण कभी नहीं चुकता। वैसे ही, जैसे मेरे लिए नरेश का आकर्षण कभी नहीं चुकता।

शाम को दफ्तर से लौटकर, नहा-धो-खा चुकने पर नरेश को अगर कुछ ललचाता है, तो वह है, ताश का खेल। ऐसा-वैसा नहीं। बौद्धिक और तार्किक लोगों का खेल—यानी ब्रिज। ब्रिज के खेल में नरेश को महारत हासिल है। अपने इस छोटे शहर का तो वह चैम्पियन बन ही चुका। अब डिस्ट्रिक्ट चैम्पियन बनने की सुखद योजना दिमाग में है। और उसके लिए वह कहता है, रोजाना नियमित रूप से प्रैक्टिस करने की जरूरत है।

क्लब हमारे घर से कुछ दूरी पर है। इसलिए रोज शाम को हम लोग गाड़ी में बैठकर वहां जाते हैं। करीब पन्द्रह मिनट का रास्ता है। इन पन्द्रह मिनटों के अलावा, नरेश अपनी व्यस्त दिनचर्या में से और पन्द्रह मिनट का समय निकालकर पिछले दिनों मुझे गाड़ी चलाना सिखाता रहा है। कम ही दिनों के अभ्यास के बाद मुझे गाड़ी चलानी आ गयी है। यह बहुत अचरज की बात है, नरेश कहता है, क्योंकि तीन-चार महीनों की कोशिश के बाद भी मुझे ब्रिज खेलना नहीं आ पाया है। नरेश की बहुत इच्छा थी मुझे ब्रिज सिखलाने की। तब, वह कहता था, खेल चुकने पर जब वह अपनी जीत का विश्लेषण मेरे सामने करेगा, तो मैं बेवकूफ की तरह उसकी तरफ ताकने रहने के बजाय खेल की खूबसूरत बारीकियों में रस ले सकूंगी।

पर यह अब तक नहीं हो पाया है। मैंने नरेश को समझाने की कोशिश की है कि ताश के पत्ते हाथ में लेते ही मैं जड़ हो जाती हूं और चाहने पर भी मेरा दिमाग या बदन हरकत नहीं कर पाता। पर वह इसे मेरी जिद बतलाता है। उसका खयाल है, मैं जानबूझकर खेल को समझने से इनकार करती हूं।

"यह कैसे हो सकता है ?" महीने-भर मेरे साथ झक मारने के बाद उसने कहा था, "जो औरत दस दिन में गाड़ी चलाना सीख सकती है, वह

महीने-भर में ब्रिज के रूल्स तक नहीं समझ सकती ?"

"ताश के पत्ते हाथ में लेकर मुझे कुछ हो जाता है," मैंने कहा था।

"कुछ हो जाता है ? वाह, क्या खूब वजह बतायी है। क्या हो जाता है, यह भी तो सुनें," उसने हँसकर कहा था, पर उसकी हँसी उसकी नाक की तरह तीखी थी।

"मैं जड़ हो जाती हूँ।" मैंने हकलाते हुए कहा था।

"कैसे ?" उसने सवाल किया था, ठीक किसी वकील की तरह। और उसकी पैनी आँखों में एक वहशी-सी चमक आ गयी थी।

"वह "जैसे पार्किन्सन्स डिज़ीज़ से पीड़ित आदमी का बदन हरकत करने से इनकार कर देता है न"'"

मैंने अपनी बात अच्छी तरह समझाकर कही थी, पर सुनकर वह भड़क उठा था।

"इतनी बेतुकी बात मैंने अपनी जिन्दगी में पहले कभी नहीं सुनी !" उसने तीखे स्वर में कहा था, "तुम्हें तो पार्किन्सन्स डिज़ीज़ नहीं है ?"

"नहीं, है तो नहीं "पर" " समझा न पाने के कारण नहीं, उसे नाराज़ देखकर मेरी आवाज़ रुँध गयी थी और मैं आगे बोल नहीं पाई थी।

"पर क्या ?" उसने जिरह जारी रखी थी, "पर क्या ? बोलती क्यों नहीं ?"

मैं कुछ कह नहीं पाई थी, आँखों में आ गये आँसू भी नहीं रोक पाई थी। वे टप-टपकर मेरे गालों पर गिरने लगे थे।

"अब रो किसलिए रही हो ?" उसने बेहद खीज-भरे स्वर में कहा था, "कोई तुक भी हो। जवाब नहीं सूझा तो रोना शुरू कर दिया।"

और तब मैं और भी बेतुकी बात कह बैठी थी।

"मैं तुम्हें प्यार करती हूँ," थर-थर काँपते गले से मैंने कहा था।

यह सुनकर, जिरह जारी रखने को तैयार उसकी तीखी नाक जैसे हड़बड़ाकर कुछ नीचे झुक गयी थी और उसने अपनी सख्त आवाज़ को नरम बनाकर कहा था, "लो"'फिर अच्छा ही तो है।"

इतना ही नहीं, उसने अपना हाथ आगे बढ़ाकर मेरा कन्धा भी थपथपा दिया था।

उस दिन के बाद भी नरेश मुझे ब्रिज सिखलाने की कोशिश करता रहा था। मैंने भी पत्ते हाथ में लेकर अपने सुन्न दिमाग में हरकत पैदा करने की ईमानदार कोशिश की थी, पर हम दोनों की कोशिश नाकाम रही थी। और फिर धीरे-धीरे, नरेश ने ही कोशिश छोड़ दी थी।

पर ब्रिज खेलना उसने नहीं छोड़ा और न खेल देखने मुझे अपने साथ ले जाना। मैंने भी उसे प्यार करना नहीं छोड़ा।

बल्कि खेल सीखने-सिखलाने की कोशिश छूटने के फौरन बाद तो मेरा हौसला कुछ ज्यादा ही बुलन्द हो गया और मैं प्यार को दाव पर लगाकर और ही खेल खेलने की कोशिश कर उठी।

नरेश जब दफ्तर से लौटता, तो मैं प्यार की तमाम अदाओं का इस्तेमाल कर उसे मोहित करने की कोशिश करती। बहला-फुसलाकर पहले उसे बाहर घुमा लाने का प्रयास करती और फिर अपने साथ बिस्तर पर ले जाने का।

बतलाने की जरूरत नहीं है कि उसे ब्रिज की मेज से दूर रखने के लिए मैं रोज नये तरीके से अपनी अवमानना करती। पारदर्शी नाइटी पहनकर दरवाजा खोलना, उसके सामने घुटनों पर गिरकर उसके जूते खोल देना, पैरों से लेकर चेहरे तक चुम्बनों की बौछार करना, उसकी गोदी में बैठकर अपने हाथों से उसे लजीज पकवानों के निवाले खिलाना, आंखों में आंसू भर कर ठण्डी हवा में घूम आने की मनुहार करना, उसके सामने अपने जिस्म के हर खूबसूरत कोण का प्रदर्शन कर उसे निमंत्रण देना . सभी कुछ मैं करती थी। हां, मैं यह बतलाना तो भूल ही गयी थी कि मैं भी काफी सुन्दर मानी जाती हूं। खैर, इतना सब करके मैं हफ्ते में दो-तीन दिन उसे क्लब जाने से रोक लेती थी।

पर दो-तीन हफ्तों में ही इस खेल के लिए मेरा उत्साह ठण्डा पड़ने लगा। मेरा प्यार-भरा आत्म-तिरस्कार उसे इतना उत्तेजित तो अवश्य कर देता कि वह चटपट मुझसे प्यार कर डालता, पर करता वह निहायत ठण्डेपन से। मुझे लगता एहसास करने की भावना से प्रेरित हो, वह एक ऊंचाई से मेरी तरफ झुकता है और मुझे प्यार करके अलग हो जाता है। मेरी असन्तुष्ट देह पिटी-सी पड़ी रहती है और मैं अगले दिन के अपने

अपमान की योजना बनाने लगती हूं।

और एक हफ्ता गुजर जाने पर मैंने पाया कि मुझे प्यार करने के फौरन बाद ही, वह अपनी गैरहाजिरी में हुए, ब्रिज के खेल के बारे में कयास लगाने लगा है। और फिर कल तो, वह जैसे ही मुझे प्यार कर चुका, वैसे ही, कपड़े पहनकर क्लब चला गया।

कल क्लब जाते हुए पहली बार उसने मुझसे साथ चलने के लिए नहीं कहा। और कल क्लब से लौटकर पहली बार उसने अपने मुंह से कहा कि वह ब्रिज के खेल में हार कर घर लौटा है और यह कहकर वह भूखे भेड़िये की तरह मुझपर टूट पड़ा। बिस्तर पर मेरी देह अभी तक वैसी ही नग्न पड़ी थी जैसी वह छोड़कर गया था। अपनी हार का तमाम गुस्सा उसने उसपर उतारा। उसके नाखूनों और दांतों के निशान मेरे ओठों, बन्धों, वक्ष और पीठ पर उभर आये। अब तक उसे आकर्षित करने के लिए मैं अपनी देह को स्वयं प्रताड़ित करती रही थी, पर उसमें इतनी तीव्र उत्तेजना नहीं जगा पाई थी जितनी आज विकर्षण ने पैदा कर दी थी। अब चुम्बनों से वह मेरी देह को प्रताड़ित कर रहा था, पर यह विकर्षण तक उसमें मेरा जगाया हुआ नहीं था। वह ब्रिज के खेल से जन्मा था।

ब्रिज के खेल में जीतकर ही वह मुझे प्यार करता था। मेरी पहल के बिना। कल की तरह तब भी वही पहल करता था। पर तब मेरा शरीर जीत में मिला पुरस्कार होता था।

अपने खेल की खूबियां बतलाते-बतलाते, वह सहसा उत्तेजित होकर एक झटके में, मेरे बदन से मेरे कपड़े अलग कर देता था और मुझपर टूट पड़ता था। पर तब उसमें विजेता का दर्प लहरा रहा होता था, पराजित की क्रूरता नहीं। ब्रिज के बेहतरीन हाथ की तरह, वह मेरी देह को सहला-सहेज कर अपनी जरूरत के मुताबिक इस्तेमाल में लाता था। तब उसमें बड़प्पन से पैदा हुआ अनुकम्पा का भाव जरूर रहता था, पर याचक को भीख देने की ठण्डी दया नहीं। वह घिनौनी दया, जो पिछले दिनों ब्रिज न मेल पाने पर, उसके प्यार करने में रही थी।

कल की बात बिल्कुल अलग थी। कल वह ब्रिज खेला तो था, पर विजय नहीं पा सका था। कल उसका दर्प चूर-चूर हो गया था, बड़प्पन

झुठला गया था, वह उग्रता और अनुकम्पा, दोनों, छोड़कर हिंसा पर उतर आया था। अपनी हार का मुआवजा वह मेरे बदन के सिवा वसूल करता भी कहां से ? तभी मेरी समझ में आ गया कि उसके लिए ताश का खेल भी बैंक में नौकरी की तरह एक व्यवसाय है और मैं वह फुटकर कैश, जिसका प्रयोग वह व्यवसाय में हुए नुकसान को भरने के लिए या लाभ पर खुशी मनाने के लिए करता है।

आज जब वह दफ्तर से लौटा तो मैंने प्यार का कोई प्रदर्शन नहीं किया। बम्बइया फिल्मों की हीरोइननुमा शुद्ध भारतीय नारी की तरह, मैंने उस समय भारी जरीदार सिल्क की साड़ी पहन रखी थी और ढेर सारे जेवर भी। माथे पर लाल बिन्दी और माग में सिन्दूर दपदपा रहा था। नकली बालों के सहारे, मैंने अपने छोटे कटे बाल ढीले-ढाले जूड़े में सहेज रखे थे। मेरे पति नरेश को यह रूप बहुत पसन्द है। उसे इसमें एक ठोस घरेलूपन दिखलाई देता है, जो उसके स्वामित्व और मेरे पालतूपन पर मुहर लगाता है। अन्य व्यावसायिक ट्रेडमार्कों की तरह यह भी स्वामित्व और स्थिरता प्रदान करता है।

चाय के साथ अपने हाथ से बनाये पकवान मैंने प्लेट में सजाकर उसके सामने रख दिये और बिना उसे छुए या उसके पास आये, उससे अधिक से अधिक खाने की मनुहार करती रही। जब खा-पीकर वह उठा तो मैं भी क्लब जाने के लिए, चुपचाप उसके पीछे-पीछे गाड़ी में जा बैठी। जब से मैंने गाड़ी चलाना सीखी है, वह मुझसे ही गाड़ी चलवाता है। आज भी मैं उसे क्लब तक ले आयी। आज, पहली बार, मैंने अपनी भावनाओं को अलग रखकर एक कार्य-दक्ष मातहत की तरह अपने बॉस का तटस्थ भाव से स्वागत-सत्कार किया था। उसके मुख पर आ रहे भावों ने मुझे कितना ही क्यों न झकझोरा हो, ऊपर से मैं तटस्थ बनी रही थी। मुझे उम्मीद होने लगी थी कि ब्रिज का खेल शुरू होने पर भी आज मैं अपनी तटस्थता और दक्षता बनाये रख सकूंगी और खेल का ठीक से अनुसरण करके नरेश को उसकी जीत पर टिप्पणी समेत बधाई दे सकूंगी।

पर ऐसा नहीं हुआ। खेल शुरू होते ही मेरा दिमाग सुन्न हो गया। कुछ देर बाद मेरे जड़ शरीर से पृथक् ही वह अपना अलग जीवन जीने

लगा बस, बीच-बीच में खिलाड़ियों के टुकड़े-टुकड़े जुमले कानों में पड़कर मुझे कचोटते रहे।

"वन हार्ट," खेल शुरू हुआ।

"नो बिड," दूसरी आवाज आयी।

"टू हार्ट्स," तीसरी आवाज उभरी।

और मैं अपने में गर्क हो गयी।

टू हार्ट्स। दो दिल। मिलते हैं और जुदा हो जाते हैं। जवान दिल प्यार करते हैं और टूट जाते हैं। उफ, कितना यातनापूर्ण होता है दिल का टूटना।

आप कहेंगे मेरे मन में उठ रही बातों को सुनकर तो आपको हंसी आ रही है। इस कदर घिसे-पिटे हैं ये अल्फाज, ये जुमले।

मैं जानती हूं। खूब जानती हूं। पर क्या करूं, यही तो मेरी त्रासदी है। कि मेरी त्रासदी बिल्कुल घिसी-पिटी, फिल्माना त्रासदी है। क्योंकि इन अल्फाज में यकीन न रखने वाले लोग इनका बार-बार इस्तेमाल करते हैं, इसलिए मेरे कहने पर भी ये झूठे मालूम पड़ते हैं। पर मैं इसमें यकीन करती हूं। मेरे साथ वाकई यही घट रहा है। "कम आन, थ्रो द हार्ट," एक आवाज ने मुझे चौंकाया।

"तुम्हारी बारी है।"

"तुमने हार्ट क्यों नहीं फेंका था," एक गुस्सैल-सी आवाज आयी, शायद नरेश की। ठीक तो है। टूटे दिल को फेंक देना चाहिए। पर क्या इतना आसान है यह करना? दिल के एक कोने में कहीं प्यार धड़कता रहता है : फेंक दिये जाने पर भी धड़कता चला जाता है।

"वन क्लब।"

"वन नो ट्रम्प।"

"क्लब।"

"थ्री स्पेड्स।"

अपने बगीचे के लिए भी एक 'स्पेड' खरीदना है। पिछली खुरपी बिल्कुल भोथरी हो गयी है। तमाम बगीचे में मोथा उग आया है। दूब का गला घोंटता हुआ मोथा। उखाड़कर फेंक न दिया गया तो फूलों की

क्यारियों तक जा पहुंचेगा। सब कुछ खतम हो जायेगा।

"मेक गुड विद ए स्पेड।"

"आई हैड थ्री ट्रिक्स।"

"···पता है पास के गांव में दस आदमी भूख से मर गये हैं ?"

"होगा। तुम पत्ता चलो।"

"हां-हां, चलो। प्ले द गेम।"

हां, खेल खेलते रहो। अन्त तक जो हो, होने दो। तुम खेल खेलो। प्ले द गेम। अंत तक। यह भी मैंने कहीं पढ़ा ही था।

"टू डाइमण्ड्स।"

"नो बिड।"

"थ्री डाइमण्ड्स।"

"नो बिड।"

नो बिड। मेरे पास चलने को कुछ नहीं है। बाजी मेरी नहीं है। खिलाड़ी मैं नहीं हूं। मैं भला क्या चल सकती हूं ? खेल खेला जाना है अंत तक। पर खेल के पत्ते दूसरों के हाथों में हैं।

"टू क्लब्स।"

"क्या रद्दी पत्ते हैं।"

"तुम्हें खेलना नहीं आता।"

"पत्तों को क्यों दोष देते हो ?"

"···तुमने गलत बिड दी।"

"यही मान्यता है।"

"गोली मारो मान्यता को।"

"···टू हार्ट्स।"

"थ्री क्लब्स ऑन इट। अब बोलो।"

क्लब द हार्ट। क्लब इट। पीस डालो। क्लब इट। मार-मारकर लोंदा बना दो। फिर कभी धड़क न पाये। फिर कभी किलक न पाये। घोट दो। पीस दो। कूट डालो।

किसी भारी बोझ के दबाव के नीचे से छटपटाकर मैंने अपनी पगलायी नजरें इधर-उधर दौड़ायीं। मेज पर पड़े ताश के पत्ते उठे, भिन्न-भिन्न

करते चारों ओर फैले और एकजुट हो, तेजी से मुझपर झपट पड़े कि मानों आंधी आ गयी। धुन-बजरी-भरा पीला अंधेरा मेरी नजरों के आगे फैल गया। आंखों में गिरकर किर किर करने लगा। पत्ते भिनभिनाते गये, डंक मारते गये, मेरा अवधान बढ़ता गया। जबतक बर्दाश्त बाहर हो गयी तो दोनों हाथ मुंह के आगे फैलाकर मैं झटके से कुर्सी पीछे फेंक, उठ खड़ी हुई और चीखकर बोली

"मुझे जाने दो।

मेरे पति ने मेरा हाथ पकड़कर मुझे वापस कुर्सी में धकेल दिया और गुर्राकर कहा :

"चुप रहो। डिस्टर्ब मत करो।"

"पर मुझे जाना है।" मैंने मिमियाकर कहा।

"चुप रहो!" वह दहाड़ उठा।

मैं चुपचाप आंसू बहाती कुर्सी में पड़ी रही। ताश के खिलाड़ियों की आवाजें टूट-टूटकर भी मेरे जेहन से टकराती बंद हो गयी।

अपने में डूबी, अपने दुःख में निमग्न, जैसे ही मैंने अवगाह के अतिरेक में परितोष अनुभव करना आरंभ किया, नरेश ने अपने हाथ के फौलादी शिकंजे में मेरा हाथ गिरफ्तार कर लिया और हथौड़े की चोट-सा "चलो" कहकर मुझे घसीटता हुआ बाहर गाड़ी की तरफ ले चला। दरवाजा खोलकर उसने मुझे भीतर धकेला और खुद चालक की सीट पर बैठकर गाड़ी आगे बढ़ा दी।

इतनी तेज रफ्तार से चलती गाड़ी में मैं पहले कभी नहीं बैठी। नरेश को गाड़ी से बहुत लगाव है। वह हमेशा उसे मध्यम गति पर चलाता है। न तेज, न धीमे। मुझे भी उसने यही सिखलाया था। "गाड़ी को हमेशा एक रफ्तार से चलाना चाहिए," वह कहता है, "तभी वह ज्यादा दिन तक काम देती है। न तेज, न धीमे।" पर आज तो गाड़ी चालू ही तीसरे गियर में हुई। छलांग लगाकर वह आगे बढ़ी कि मेरा सिर आगे जाकर डैश बोर्ड से टकरा गया। दूसरे झटके के साथ मैं वापस सीट से जा टिकी। माथे की टीसती चोट पर अभी गोला उभरा भी नहीं था कि मेरा सिर दुबारा डैश बोर्ड से जा टकराया। सन्नाटा खाकर गाड़ी रुक गयी थी, हमारे घर के सामने।

नरेश ने दरवाजा खोलकर मुझे बाहर निकाला और बेड रूम में ले जाकर पलग पर पटक दिया। आतंक और उत्तेजना से कापती मैं फटी-फटी आखों से उसे ताकती रही और इन्तजार करती रही कि आज भी कल की तरह वह भूखे भेड़िये की तरह मुझपर टूट पड़े। मैं समझ गयी थी कि आज वह फिर ब्रिज में हार गया है।

पर वह मेरी तरफ नही बढ़ा। जरा दूरी पर खड़े रहकर ही नफरत से सने कठोर स्वर मे बोला :

"अपनी बेतुकी बात कहने को कोई और वक्त नही मिला तुम्हें ? ठीक क्राइसिस के वक्त डिस्टर्ब करना जरूरी था ? सारा खेल चौपट करके रख दिया।" और वह कमरे से बाहर हो गया।

आज की हार उसकी दूसरी हार थी। दो दिनो के भीतर दूसरी। पहली हार से कही ज्यादा हराने वाली। मैं समझ गयी, यह नुकसान इतना बड़ा है कि मेरी देह उसका मुआवजा अदा नही कर सकती।

उसके बहुत देर बाद तक जब वह बिस्तर पर नही आया तो मुझसे अकेले वहां पड़ा नही रहा गया। उसे ढूढती हुई मैं बैठक के दरवाजे पर पहुँची और अदर झाककर देखने लगी। मैंने देखा, वह सोफे पर बैठा, लैम्प की रोशनी में एडवांस्ड ब्रिज नाम की किताब पढ रहा है। गमगीनी मे डूबा उसका चेहरा पीला और सुस्त लग रहा है। पैनी-काली आंखों में नमी झलक रही है। मासल-लाल ओठ आगे को लटक आये हैं। किताब को पढ़कर तुरन्त समझ लेने के प्रयास से माथे पर शिकनें उभर आयी हैं और तीखी नाक पहले से भी ज्यादा तीखी लग रही है।

मेरी उपस्थिति से अनजान वह पढने में मग्न था। मैं देर तक दरवाजे की चौखट पर खडी उसे देखती रही। उसका गमगीन चेहरा मुझे भीतर तक झिझोड़ गया था। मुझे लगा उसके चेहरे पर खुशी देखने के लिए मैं कुछ भी कर सकती हूं। कुछ भी। ताश खेलना तक सीख सकती हू।

इतना सोच लेने पर भी मैं कमरे के अन्दर नहीं गयी। वही खड़ी-खड़ी उसे देखती रही। प्यार के दबाव से मेरा सीना फटने-फटने को हो गया। मैं जान गयी, मुझसे कुछ नही होगा। सोचने-समझने के बावजूद मैं चीजों को जिस तरह महसूस करती जाती हू, उसमें कोई तुक नही होती।

युग में मिसफिट हूं। मैं जानती हूं, मैं उसे ऐसे ही प्यार करती रहूंगी। उसके होने को कभी व्यवसाय की तरह नहीं ले सकूंगी। उसकी नाराजगी और खुशी को, उसकी संजीदगी और हंसी को, उसकी दिलचस्पी और रुखाई को व्यावसायिक जीवन के सामान्य उतार-चढ़ाव मानकर कभी स्वीकार नहीं कर सकूंगी। और इसीलिए मैं उसे कभी खुश भी नहीं कर सकूंगी। मैं यूं ही दिन में सौ-सौ बार मरती रहूंगी पर उसके साथ तटस्थ होकर कभी जी नहीं सकूंगी। लाख सोच लेने पर भी मैं ताश नहीं खेल सकूंगी।

मैं उन बेवकूफ औरतों में से एक हूं जो अपने पति को प्यार करती हैं या यह कहना चाहिए कि मैं ही एक वह बेवकूफ औरत हूं जो…

होना

आज भी डाकिया आकर लौट गया। बन्द दरवाजे की फांक से ढेर सारी चिट्ठियां भीतर घुसाकर। तंग जगह में फंस-फंसकर वे अन्दर दाखिल हो गयीं। एक गड्डी निर्जीव चिट्ठियां मूक-निस्पन्द। मुर्दाघर की लावारिश लाशों की तरह। बिना देखे वह समझ गयी—वह खत, जिसका उसे इन्तजार है, इनमें नहीं है।

उफ, उस अकेले नीले लिफाफे की सरसराहट! दरियों और लिफाफों के बीच फंसे रहने पर भी वह छटपटाकर अलग जा पड़ता और उनसे पहले या बाद में या उनके बीच से बाहर झांकता भीतर दाखिल होता। शायद भेजने वाले की छटपटाती व्यग्रता उसे इस कदर अधीर बना देती कि दूसरे बेजान खतों का साथ बर्दाश्त नहीं कर पाता। डाकिये के झोले में इसलिए चुपचाप खड़ा रहता क्योंकि वह जानता था डाकिया जड़ नहीं है। वह एक जगह खड़ा नहीं है, बराबर मुकाम की तरफ बढ़ रहा है। एक बार मंजिल पर पहुंच लेने पर, वह उनके बीच दबा नहीं रह पाता, आगे बढ़कर, सबसे पहले, उसकी नजर को चूम लेना चाहता।

और उसकी अपनी अलग वह आवाज—पिंजरे से निकल पहली उड़ान भर रहे पक्षी के पंखों जैसे हल्की—धड़कती फड़फड़ाहट।

और उसकी अपनी अलग वह गंध'''खारे समुद्री पानी की भीनी-नमकीन महक। खुशबू नहीं, महज बू। न खुशगवार, न नागवार, बस, अलग। अनहोनी, फिर भी अजनबी नहीं।

सब कुछ गलत है, बिल्कुल गलत। विवेक से सोचा जाये तो सरासर बकवास। न लिफाफा अधीर हो सकता है, न छटपटाकर आवाज कर सकता है और न सागर पार करके आने से ही समुद्री पानी की नमकीन गन्ध उसमें बस सकती है।

और लिफाफों से वह नीला लिफाफा कुछ हल्का होता है, इसलिए अलग आ पड़ता है और दरवाजे की नग फांक से या सबसे पहले भीतर घुस आता है या सबसे बाद में। उसका कागज भी बढ़िया होता है, और लिफाफों से करारा, इसलिए जाने सरकने में भी कुरमुर आवाज करता है। पक्षियों के पंखों की फड़फड़ाहट की याद वह सिर्फ उस इन्सान को दिला सकता है, जिसने वाकई वह फड़फड़ाहट कभी सुनी न हो, महज किताबों में पढ़ी हो। और फिर उस लिफाफे का कागज बांस को कूटकर नहीं बनाया जाता। जाने किस अला-बला को कूट-छानकर कागज के लिए कच्चा माल तैयार किया जाता है। मशीनों में घुट-पिसकर उसकी मिली-जुली गन्ध खारे समुद्री पानी की तरह अटपटी बन जाए तो क्या अचरज है?

यह सब वह जानती है। उस नीले लिफाफे का कागज हल्का होता है, करारा होता है और अजीब-सी गन्ध लिये होता है। मालूम है उसे।

पर यह भी तो वही जानती है, उसीने महसूस किया है…पक्षी के पंखों-सी फड़फड़ाती, लिफाफे की अलग आवाज; समुद्री पानी-सी नमकीन, उसकी अलग गन्ध; और उसकी नजर के सामने पड़ने को उसकी चौकन्नी हड़बड़ाहट।

दो साल हो गये ये सब देखे, सुने और सूंघे। दो साल हो गये अपने इन्तजार को, अचानक, हल्की सरसराहट के साथ खत्म होते महसूस किये। दो साल हो गये उस नीले लिफाफे को आये।

दो साल में कितने दिन होते हैं…तीन सौ पैंसठ…और तीन सौ पैंसठ। एक दिन में डाकिया तीन बार आता है। इतवार को नहीं आता। तीन सौ तेरह दिन में नौ सौ उनतालीस बार और फिर तीन सौ तेरह दिन

में नौ सौ उनतालीस बार। इतनी बार उसका इन्तजार नाकाम हो चुका। उस नीले लिफाफे को आये इतने दिन बीत चुके कि उनका हिसाब करने के लिए उसे एक पन्ने कागज और कलम की जरूरत होगी।

फिर भी दिन गुजरते हैं। एक साल में तीन सौ पैंसठ दिन होते हैं और उतने ही हर साल होंगे। अगर और दो साल नीला लिफाफा नहीं आया, तो भी दिन गुजरते रहेंगे। अंक कुछ और बढ़ जाएंगे पर उनका जोड़ करने के लिए उतना ही बड़ा कागज और एक कलम काफी होगा।

दो साल हो गये और अब तो वह यह भी नहीं जानती कि उस नीले लिफाफे को भेजने वाल जिन्दा है या मर चुका।

वैसे उसने उसे वचन दिया था, वह कुछ ऐसा इन्तजाम कर रखेगा, जिससे उसके मरने की खबर उस तक पहुंच सके। कैसे होगा वह, उसे शक था। पर उसने समस्या सुलझा दी थी।

वह अपनी वसीयत में उसके नाम कोई छोटी-मोटी चीज—किताब या चित्र—छोड़ जायेगा। तब उसके मरने पर उसका वकील उसे खबर कर देगा। "...तुम भी यही करना," उसने कहा था।

वह मान गयी थी। अगले ही दिन अपनी वसीयत बना डाली थी। हालांकि वसीयत में छोड़ने लायक, उसके पास, कुछ था नहीं। जो कुछ था उसके पति का था, उसका नहीं। फिर भी, उसने एक सीधी-सी वसीयत बना डाली थी। अपना सब कुछ पति के नाम छोड़ते हुए, एक किताब उसके नाम छोड़ दी थी, उसका नाम और पता देकर।

वह नहीं जानती कि उसके मरने पर वह वकील, जिसके पास उसने अपनी वसीयत रखवायी है, कहां तक उसपर अमल करेगा। एक मामूली किताब के लिए क्या एक रुपया साठ पैसा खर्च करके दूसरे देश खबर भिजवायेगा? काफी मुश्किल लगा था उसे। और इसलिए कुछ ऊहापोह के बाद उसने अपने वसीयत के साथ एक पांच रुपये का नोट भी रखवा दिया था। वकील ने अजीब नजरों से उसकी तरफ देखा था और वह कह उठी थी, "...क्या मालूम, मेरे मरने तक अन्तर्राष्ट्रीय डाक टिकट ... पांच रुपया हो जाए।" ...वकील को उसका व्यवहार जरूर हल्का

होगा। उसे विश्वास हो गया था वह खबर नहीं भिजवायेगा।

उसके अपने मरने की खबर उस तक न भी पहुंची तो खास नुकसान नहीं होगा। जब वह रहेगी ही नहीं तो इस भयंकर पीड़ा से भी छुट्टी पा ले, जो अब, हर पल, उसके अस्तित्व को झकझोरती रहती है। तब जो भी होगा उसे दुःख नहीं पहुंचा सकेगा।

पर उसकी खबर? वह न मिली, तो? आज, अभी, जिन्दा न हो, तो? अगर वह मर चुका हो और खबर उस तक न पहुंच पाई हो, तो? जब भी यह ख्याल उसे आता है तो एक कसमसाता गाढ़ा-काला धुआं उसकी आंखों के सामने फैल जाता है। देखते-देखते खुली आंखों के सामने से सब कुछ गायब हो गया। धुएं के अलावा। इस छोर से उस छोर तक। आसमान से गाज गिरी। पृथ्वी धू-धू कर जल उठी। पलक झपकाते, सब हो खुद अपने में समा गयी। सामने मुंह बाये फट आया एक अथाह-अनन्त काला गड्ढा। सब कुछ विलीन हो गया। हलाल होते बकरे की तरह वह चीत्कार कर उठी। छलांग लगा उसी गड्ढे में कूद पड़ी"'और सब कुछ समाप्त हो गया!

पर कहां? कहीं कुछ भी तो नहीं हुआ। कभी कुछ नहीं होता। वह जड़ खड़ी रहती है। सामने पेड़-पौधे, अपनी-अपनी जगह, झूमते रहते हैं। पृथ्वी की छाती पर मोटर-गाड़ियां, स्कूटर-साइकिलें और पथिक आते-जाते रहते हैं। राह-चलते आपस में बतियाते-मुस्कराते हैं। सब वैसे ही रहता है और वह खुदकुशी करके भी जीती चली जाती है।

और नीला लिफाफा फिर भी नहीं आता।

अब इन्तजार की धड़कनें खौफ के शिकंजे में कैद हो चली हैं। अगर किसी दिन, किसी पल, डाकिया नीला लिफाफा फेंक जाए! वह घिसट-कर अन्दर आ पहुंचे। उसमें न वह आवाज हो, न गन्ध। वह कल की बासी खबर की तरह मुर्दा पड़ा रहे। उसके हाथों का स्पर्श पाकर भी उसमें चेतना न जगे। वह टाइम-बम के गोले-सा उस क्षण का इन्तजार करता रहे जब उसके कांपते हाथ उसका चिपका आवरण चीरेंगे और वह फट पड़ेगा।

तब क्या वह विस्फोट उसकी चिदी-चिदी उड़ा सकेगा ? क्या लबालब खून से भरा मास का लोथड़ा उसका यह शरीर धज्जी-धज्जी छितर-कर हजार दिशाओं में बिखर सकेगा, जिससे उसमें से कोई एक कण उसकी जमीन की मिट्टी में जा मिले ? क्या उसका खून, कतरा-कतरा बह कर, समुद्र को पार करता उस अनजान देश के अनचीन्हे शहर में रखे उसके ताबूत में जा टपकेगा ?

वह जानती है, ऐसा कुछ नहीं होगा। जिस तरह खुदकुशी करने के बाद वह जीती जाती है, उसी तरह हत्या होने पर भी जीती जायेगी।

वह उस बेआवाज-गन्धहीन नीले लिफाफे को हाथ में पकड़कर चीरेगी। वकील का लिखा मजमून पढ़ेगी और कुछ नहीं होगा। न बम फटेगा, न विस्फोट होगा, न उसकी देह की चिंदियां उड़ेंगी, न एक बूंद खून बहेगा। वह जड़ खड़ी रहेगी और दुनिया वैसी की वैसी घूमती रहेगी।

कितना भयंकर है यह मरकर भी जीते जाना—जब देह पर लगी चोट पीड़ा नहीं देती, घाव से बहती पीब जुगुप्सा नहीं जगाती, जब सर्द हवा के थपेड़े बदन नहीं ठिठुराते, जब आग की लौ खाल झुलसाकर भी जलन नहीं बख्शती, जब किसीका स्पर्श गर्माहट नहीं देता, किसीका प्यार पुलक नहीं उठाता, जब जिन्दगी मौत के इतने करीब होती है कि जिन्दगी की चाह न होने पर भी आदमी जिन्दा रहता है; और मौत की ख्वाहिश होने पर भी मरने की कोशिश नहीं करता।

दो साल हो गये नीले लिफाफे को आये और एक साल उसे यह महसूस किये कि मर तो वह सकता ही नहीं, बिना उसके जाने।

"मेरे जाने के बाद यह तो नहीं लगेगा कि मैं तुम्हारा नहीं रहा ?" जाते हुए उसने पूछा था।

"नहीं, कभी नहीं। तुम हो, यही जानना काफी होगा। और कुछ नहीं तो एक लाइन लिख दिया करना, जब-तब। मैं हूं। बस काफी होगा।"

"कहीं न कहीं तो रहूंगा ही," वह हंस दिया था।

"अगर न हो तो ?" कहकर वह खिलखिला उठी थी, धमाल से ही। उसने उसे इतनी बुरी तरह बाहों में भींच लिया था कि वह कह उठा था, "अभी से दम घोंटकर तो मत मारो।"

कहकर वह हँस दिया था, पर वह नहीं हँसी थी।

"अगर तुम न रहे और मैं सोचती रह गई, तुम हो, तब क्या होगा?" भय से उसकी आँखें बौरा उठी थीं।

"अच्छा होगा। तसल्ली रहेगी," उसने छेड़ा था।

"नहीं! नहीं! नहीं!" वह विक्षिप्त के समान चीख दी थी। "मुझे खबर करवा देना। फौरन। तुम्हारा होना और तुम्हारा न होना, यही तो फर्क होगा, जीने और मरने में।"

"मरकर कैसे खबर करूंगा?" उसने हँसने की बेजान-सी कोशिश की थी पर उसका चेहरा देख रुक गया था और समस्या का समाधान खोजने लगा था।

पर अब दो साल हो गये। उसके तमाम पुराने पतों पर वह खत डाल चुकी। कहीं न कहीं रहने वाले उस स्वच्छन्द आदमी के न जाने कितने पते उसके पास जमा हो चुके थे। पर कोई जवाब नहीं आया। वह नहीं जानती, वह है या नहीं है। नहीं जानती कि वह स्वयं जिन्दा है या मर चुकी। अगर आज डाकिया आये और वह जान जाए वह नहीं है, तब? तब वह समझ जायेगी, वह मर चुकी। तब उसके मन से यह दुविधा खतम हो जायेगी कि शायद उसे अभी जीना है।

चलना-फिरना, खाना-पीना, उठना-बैठना, हँसना-बोलना, कालेज में पढ़ाना और अपने शरीर को एक शरीर को अर्पण करना, ये सब तो उसे फिर भी करते रहना है। पर तब जीने की कोई जिम्मेवारी उसपर नहीं रहेगी। वह अनुरक्त न भी रहे तब भी यह सब चलता रहेगा।

वह है या नहीं है इतना-भर वह जानना चाहती है—बस।

अगर आज डाकिया आये, दो-एक लिफाफे बन्द दरवाजे की फाक से भीतर धकेल दे, एक नीला लिफाफा पख फरफराकर अलग छिटक जाये, या संगी लिफाफों के दरम्यान से चोंच निकालकर बाहर झांके और उसे अपनी तरफ देखने का निमन्त्रण दे, वह आगे बढ़े, उसे हाथ से सहलाये और उठा ले। धीमे से सम्भाल कर, एक हाथ मे पकड़े और दूसरे हाथ से उसका चिपकाया मोड फाड़ दे। लिफाफा खोलकर आखों के सामने फैला ले। दो साल से जेहन में महफूज समुद्री फेन की लोनी गन्ध वाकई उसके

नथुनों में बस जायं। उसके बदन की तनी हुई नसें एक बार झन झनाकर बज उठें और फिर सुकून पा जायें। उस अलग आवाज और अलग महक की बरसों पुरानी पहचान की खुमारी में डूबते-डूबते वह पढ़े—मैं हूं—और···जी जाये।

वह जिये और साथ ही जान जाये कि वह जीवित है।

तब वह देखे, कुर्सी पर चढ़ी गद्दी का रंग पीला है; मेज पर बिछे मेज-पोश पर मोर बना है; रसोई घर से जीरे-हींग की बघार की खुशबू उठ रही है; पास के मकान में कोई गा रहा है; बाहर धूप निखरी हुई है; उसकी साड़ी का किनारा फटा हुआ है; सड़क पर आ रहा स्कूटर रुक गया है। घड़ी में बारह बज रहे हैं; पास के चर्च में घण्टियां टनटना रही हैं; उसके घर के सामने खड़े नीम के इकलौते पेड़ पर चिड़ियां चहचहा उठी हैं; सड़क का अवारा कुत्ता भौंक रहा है; उसके आंगन में धूप की एक किरच खिंच आई है; मिट्टी के गमले में रोपा गुलदाउदी का पौधा कल से लम्बा दिखने लगा है···और ये सब उसके जीवित होने के सुबूत हैं।

तब वह देखे कि दरवाजे की चौखट पर धूल पड़ी है और यह धूल की परत तक बेमतलब नहीं है, उसी जिन्दगी को नमूदार कर रही है।

उलटी धारा

होली का दिन था। महफिल जमी हुई थी। भाग की ठंडाई के दौर के साथ उड़ रहे गप्पों के गुब्बारे। ममा बंध चुका था। तभी मक्खासिंह कुछ ज्यादा जोश में आ गया और फिर सिक्खों की बहादुरी के आखों देखे किस्से सुनाने लगा—दूसरी लड़ाई के दौरान। इस बार, बात सिर पर नहीं गुजरी। हमने उसका सिरा थाम लिया। और फिर वह हिंदुस्तान के हर सूबे पर होकर बहने लगी। कोई शिवाजी का नाम लेने लगा तो कोई टीपू सुल्तान का, कोई जनरल थिमय्या का तो कोई ब्रिगेडियर उस्मान का। तभी नब्बे बरस के श्यामसिंह ने ऐसी बात कह दी कि सबकी जबान एकबारगी बंद हो गयी।

"क्या बकबक लगा रखी है," उसने कहा, "उन्नीस सौ बासठ में चीनियों से 'सीज फायर' कराने का दम था तो बस एक बिहारी में।"

चीनियों से सीज फायर! कह क्या रहा है श्यामसिंह? १९६२ के अक्तूबर में चीनियों के हमले और नवंबर में उनके एकतरफा 'सीज फायर' से कौन नहीं वाकिफ है? पर 'सीज फायर' हुआ क्यों, यह ठीक से आज तक कोई नहीं बतला पाया।

"विक्रमसिंह मेरा भानजा था। आप तो जानते ही हैं, मेरा अपना कोई बच्चा नहीं हुआ। वही मेरा वारिस था। १९६१ में, जब मैं इस बुरी तरह बीमार पड़ा कि बचने की कोई उम्मीद नहीं रही, तब वसीयतनामे के साथ-साथ अपने खानदान का राज भी मैंने विक्रमसिंह के हवाले कर दिया।

"कैसा राज?" मैंने पूछा।

कुछ देर तक श्यामसिंह चुप रहा, फिर उसके झुर्रियोंदार चेहरे पर कुछ ऐसी शरारती मुस्कराहट दौड़ गयी कि वह यक-ब-यक जवान दीखने लगा।

"प्रेमा पहले मुझसे प्यार नहीं करती थी," उसने कहा।

"कौन प्रेमा ?" जसवत ने पूछा।

"मेरी बीवी," श्यामसिंह ने छोटा-सा जवाब दिया और मन लगाकर ठंडाई पीने लगा।

कुछ देर तक हम लोग इंतजार करते रहे कि वह आगे कुछ और कहेगा, पर जब वह नहीं बोला तब सोच लिया, बूढ़े का मन है, यूं ही इधर-उधर भटक रहा है, ध्यान देने की जरूरत नहीं है।

"अजी चीनियों का क्या है···" मक्खासिंह ने बात का लट्टू अपनी तरफ घुमाया ही था कि श्यामसिंह कहने लगा, "विक्रमसिंह फौज में मेजर था। राज पता चलने के कुछ ही दिन बाद उसकी पोस्टिंग तेजपुर (असम) में हो गयी। वहीं एक नागा लड़की, लक्का, से वह प्यार कर बैठा। विक्रम ने मुझे लिखा और मैंने फौरन उसे दवा भेज दी।" यह कहकर श्यामसिंह फिर ठंडाई पीने लगा।

"दवा ? कैसी दवा? प्रेम की भी कोई दवा होती है ?" मैंने और दत्त ने एकसाथ पूछा।

"और नहीं तो प्रेमा ने मुझसे शादी कैसे की ?" जवाब के तौर पर श्यामसिंह ने सवाल हमारी तरफ फेंका।

इसका जवाब तो हमारे पास था नहीं, लिहाजा हम चुप रहे।

उसने कहा, "मजे की बात यह है कि जब शुरू-शुरू में मेरा उससे प्यार हुआ और उसने यूं दिखलाया कि वह मेरे नाम से ही नफरत करती है, तब भी मुझे दवा का इल्म था, पर मैं अपने को रोशनखयाल समझता था। उन दकियानूसी खानदानी टोटकों को अपनाने में अपनी तालीम की तौहीन मानता था, जो इंग्लैंड में हुई थी।"

वह फिर बोला, "प्रेमा गांधीजी की चेली थी। उसका खयाल था कि मुझे अपनी ज़मीन-जायदाद, ओहदा सब छोड़कर आजादी के लिए लड़ना चाहिए। साहब, मैं प्यार जरूर करता था, पर इसका मतलब यह नहीं था

कि मैंने दिमाग मे काम लेना ही बद कर दिया था। आजादी मिलने, न मिलने से आखिर हम जमीदारो को क्या फर्क पड़ना था ! पर जिस तरह प्रेमा बात करती थी, जिस तरह वह उन पिलपिले खद्दरधारियो के गीत गाया करती थी, उससे तो लगता था, उसे मेरा शिकार खेलना और घुड़-सवारी करना तो नापसद है ही मेरी छाती की चौडाई और बदन के गठीले-पन में भी उसे पाप नजर आता है। चाहते न चाहते, मैं ठीक मजनूं ही बनता जा रहा था।

"पर एक दिन मेरे हाथ अगरेजी की एक किताब, जान बूकन की 'ए ल्यूमिड इटरवल' लग गयी। तकदीर का करिश्मा देखिये, इस कहानी में मेरे पूर्वज रामसिंह की इसी दवा का जिक्र था। एक सास मे मैं पूरी कहानी पढ गया और पढते ही सोचा, जब एक अगरेज उस सबमे विश्वास कर सकता है तब भला मैं किस खेत की मूली हुआ ?

"बस साहब, मैंने प्रेमा के रसोइये को पटा लिया और दूध मे दवा···" वह बात बीच मे रोककर ठठाकर हस पड़ा।

"फिर क्या हुआ ?" जसवत ने पूछा।

"सब जानते हैं," उसने कहा, "पुश्त-दर-पुश्त यह दवा हमारे खानदान मे चली आ रही है। उसके खाने से आदमी का सोचने का तरीका बदल जाता है। जो अब तक सोचता आया हो, उससे ठीक उलटा सोचने लगता है।···अब प्रेमा का हाल क्या बयान करूं। दूध का पहला घूट ही भरा था कि तडपकर बोली, 'यह साड़ी है या गधे का बोझ !' और फिर देखते-देखते उसने अपने बदन से खादी की साडी उतार फेंकी। और अगले दिन जब वह मुझे मिली तब कीमती रेशम की साड़ी पहने थी। खुशमिजाजी मे मुझसे बात की, खालिस अगरेजी म, और वह भी घुडसवारी और पोलो से शुरू करके, लदन-कैंब्रिज मे हुई मेरी तालीम के बारे मे। उसके बाद शादी के लिए उसे तैयार करने में भला कितनी देर लगनी थी।"

एक बार फिर वही दिलकश मुसकान फेंक वह अपनी रोमानी यादों मे खो गया और हम उस करामाती दवाई के करिश्मे की उधेड़-बुन मे।

"यार, ऐसी दवा हो सकती है क्या ?" मक्खनसिंह ने कहा।

"हो सकती है, बिल्कुल हो सकती है," दत्त साहब जोशीली आवाज में बोले।

सहसा मक्खासिंह चिल्ला उठा, "विक्रमसिंह ! विक्रमसिंह ने क्या किया ?"

"मरते दम तक मैंने प्रेमा को दवाई के बारे में पता नहीं लगने दिया", श्यामसिंह ने कहा, "पचास साल हम शादी-शुदा रहे; बस, बच्चा नहीं हुआ।"

"पर विक्रमसिंह ?" मक्खासिंह फिर चिल्लाया।

"वह मेरा भांजा था।"

"पर उसने चीनी कैसे भगाये ?"

"चीनी हमले के दौरान जब बाकी लोग मरने-मारने में व्यस्त थे तब विक्रमसिंह जासूसी में लगा था। चीनियों का जनरल अपनी बर्बरता के लिए मशहूर था। सुना जाता था कि उसका हुक्म था कि जब कोई सिपाही मैदान में घायल हो जाये तब उसके पीछे वाले उसके हथियार लेकर आगे बढ़ते चलें, उसकी देखभाल में वक्त बर्बाद न करें। काफी दिन खोज करने के बाद उसे उनकी एक कमजोरी का पता चल ही गया। वैसे तो कामरेड जनरल च्यांग लाओत्से को किसीने कभी हंसते या रोते नहीं देखा था, पर सुनने में आया था कि तेज-मिर्चदार खाना खाते हुए उसके ओठ ऐसे हिल उठते थे कि लगता मुस्कराहट उस तक आते-आते रह जाती। विक्रमसिंह ने यहीं चोट करने का इरादा किया। उसके खानदानी हथियार के लिए था भी यह मुनासिब।

"विक्रमसिंह ने बहुत सूझ-बूझ के साथ अपने एक वफादार नागा अंगामी को चीनी फौज में मिलवा दिया। फौरन उसने उन्हें हिंदुस्तानी फौज की पोजीशन और हालात के बारे में तमाम जानकारी दे दी। इसमें विक्रमसिंह की कितनी गहरी चाल थी, समझे ?"

"पर ऐसी जानकारी देने से हिंदुस्तानी फौज का नुकसान भी तो हो सकता था," मक्खासिंह ने आपत्ति की।

"कह दी न बच्चोंवाली बात," श्यामसिंह हंसा, "वही न मैं कह रहा हूं। चीनियों को हिंदुस्तानी फौज के बारे में जानकारी पहले से है, पर इस

तरह ठीक जानकारी देकर अंगम उनके लिए भरोसे का आदमी बन बैठा। उसने यह भी बतलाया कि वह हिंदुस्तानी फौज में रसोइये का काम करता था। खोलने पर उसके झोले में से तरह-तरह के मिर्च-मसाले निकले। देखकर ही, च्यांग लाओत्से के मुह में पानी आ गया। उसने अंगम से मिर्चदार मास पकाने को कहा।

"मास बनकर तैयार हुआ। च्यांग ने अपने बाडीगार्ड लुत्से से चखने को कहा। लुत्से की आंखो से बेतहाशा बहता पानी, मुंह का रंग लाल और गले मे धसका। उसने अंगम को ऐसी नजर से देखा जैसे मौका मिलते ही जिंदा निगल जाएगा। अगम मन में हसा। लुत्से को भेड़िये से भेड़ बनाने का नुस्खा उसके पास था ही—वही मसालो के झोले मे, अमचूर में मिला हुआ।

"खैर, लुत्से की आखों के पानी से च्यांग को सरोकार नहीं था। उसने शौक से मांस खाया और खाकर वही कशिश-भरी मुस्कराहटनुमा चीज उसके ओठो पर थिरक उठी। अगम खुश हो गया।"

"तो मांस मे दवा थी?" मैंने पूछा।

"नहीं, उसने पहली मरतबा नही मिलायी। वह उस दिन का इंतजार करना चाहता था जब खाने पर फौज के सब बड़े अफसर जमा होने वाले थे।

"आखिर वह दिन भी आ पहुचा। बोमदिला-शिकस्त का दिन। उस रात खाने पर बडे अफसर मिलकर तेजपुर पर हमले का प्लान मत्थी करनेवाले थे। बस, अंगम ने खूब झोलदार मांस की तरी बनायी और भगवान का नाम लेकर दवा उसमें मिला दी। रोज की तरह लुत्से ने चौकन्नी जलती नजर उसपर फेंक ओठ बिचकाकर मास का कौर मुह में डाला। पर आज उसके माथे पर शिकन तक नही आयी, बल्कि खाकर वह खुलकर मुस्कराया और बोला, 'बढ़िया है!' अंगम समझ गया, प्लान कामयाब हो रहा है। पक्का सुबूत उसे तब मिला जब भीतर मांस पहुंचा देने पर लुत्से ने एक लम्बी जमुहाई लेकर कहा, 'कई रातो से मैं सो नहीं सका। तुम यहीं रहो, मैं आराम करके आया।' और वह चला गया। उलटी धारा वाकई वह निकली थी। अदर भी खाना शुरू हो गया था।

अंगम कान लगाकर भीतर की बातचीत सुनने लगा। मांस का टुकड़ा च्यांग ने तबीयत से चबाया, निगला और जोर से चिल्लाया, 'यह कैसा शोर है ? भगवान के लिए इसे बंद करवाओ।' उसके मुंह से 'भगवान' शब्द सुनकर, सब हक्के-बक्के रह गये। बचपन में कभी उसने भगवान का नाम लिया हो तो लिया हो, होश संभालने के बाद तो माओ का नाम ही जपता आया था। आखिर उसके पास बैठे कामरेड कप्तान ने डरते-डरते कहा, 'कामरेड जनरल, यह तो रोजवाला ही शोर है। बंदियों से पूछताछ हो रही है।'

" 'पूछताछ ! यानी यातना !' च्यांग दहाड़ा, 'मेरे रहते हुए ! तुम लोग इनसान हो या शैतान ? बंद करो यह सब !'

"पहले भगवान, अब इनसान ! कप्तान ने सोचा, च्यांग पागल हो गया है, पर किया क्या जा सकता था ! हुक्म तो उसका ही चलना था। कप्तान उठकर बाहर चला गया। च्यांग ने मुस्कराकर बाकी लोगों से कहा, 'आप लोग यह तरी तो चखिए।' उसके चेहरे पर मुस्कराहट देखकर लोग जहां के तहां जमे रह गये। किसीके मुह से बोल नहीं निकला ! पर धीरे-धीरे होश संभलने पर हुक्म की तामील उन्होंने जरूर की। सबने एक-एक निवाला मुह में डालकर जल्दी से ऊपर से पानी पी लिया। सबसे पहले पो-लिन ने निवाला निगला। फौरन वह खड़े होकर बोला, 'कामरेड जनरल, कल आपने तैंगपुर पर हमला करने का हुक्म दिया था। पर मैं समझता हूं कि आनेवाली सर्दी और रसद की दिक्कतों को देखते हुए यह सरासर गलत कदम होगा।'

"सब लोग मुह बाये पो-लिन को अपने ही प्लान का विरोध करते सुनते रहे, पर च्यांग एकदम फट पड़ा, 'चुप रहो,' वह दहाड़ा, 'इतना विनाश करके भी तुम्हें शांति नहीं मिली। अभी कसर बाकी है ? उन बेचारों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ? मेरा हुक्म है कि फौरन लड़ाई बंद कर दी जाए।' तब तक बाकी लोग भी अपने-अपने निवाले निगल चुके थे और उनपर भी असर हो चला था। जहां तक च्यांग का सवाल था, अपना हुक्म सुनाकर, वह उठकर अपने कमरे में चला गया। बाकी अफसरों ने मिलकर तय किया कि यह खबर पीकिंग भेज दी जाए कि हालांकि हिंदुस्तानी फौजें हिम्मत-

पस्त हैं फिर भी आनेवाली सर्दी में आगे बढ़ना खतरे से खाली नहीं है।

"बस, फिर क्या था। संदेश लेकर कप्तान को पीकिंग रवाना कर दिया गया।

"बात उन्हें जंच गयी, और साहब, 'सीज़ फायर' हो गया," श्यामसिंह ने बात खत्म कर दी। काफी देर तक चुप्पी रही। हम लोग तय नहीं कर पा रहे थे कि पूरी कहानी पर यकीन करें या नहीं। यकीन करने को मन नहीं था, पर यकीन किये बगैर भी रहा नहीं जा रहा था।

श्यामसिंह ने ठढाई का एक और गिलास छाना और बोला, "यह कहानी मेरे सिवा कोई नहीं जानता। इसके फौरन बाद ही अंगम एक नागा-मुठभेड़ में मारा गया था।"

तभी मुझे एक खौफनाक खयाल आया।

"तो विक्रमसिंह के पास अब भी वह दवा है!" मैंने घबराहट के स्वर में कहा।

श्यामसिंह ने एक गहरी सांस भरकर कहा, "विक्रमसिंह बेचारा तो १९६५ की पाकिस्तान-मुठभेड़ में मारा गया।"

कहकर उसने आंखें बंद कर लीं, पर मैंने उसे सोने नहीं दिया।

"तो उसने किसी और को वह दवा बतलायी होगी?" मैंने पूछा।

"हमारे खानदान का उसूल है कि सिर्फ एक वारिस को दवा बतलायी जाती है। विक्रमसिंह के कोई बच्चा नहीं था और दूसरा कोई वारिस भी नहीं था। असल में उसे सपने में भी खयाल नहीं था कि वह यूं मारा जाएगा। संयोग कुछ ऐसा हो गया कि कोई एक गोली पीछे आकर उसीको लग गयी। बेचारा, राज साथ लिए ही भगवान को प्यारा हो गया।"

शुक्र है भगवान का, मैंने सोचा।

पर दूसरे ही क्षण मुझे मायूसी होने लगी। इतनी नायाब चीज़ दुनिया से उठ गयी, बहुत बुरा हुआ।

तभी मक्खासिंह चिल्ला उठा, "वाह-वाह! ऐसी दवा हिंदुस्तान में ही बन सकती है।"

मैंने भी सोचा, बात तो ठीक है। ऐसी दवा हिंदुस्तान में ही ईजाद हो सकती है। यहां की हवा की करामात है, साहब। तभी न हमारे प्यारे नेता, इस मुस्तैदी से आये दिन अपने नारे और दल बदल लेते हैं। हो न हो, यह करामाती दवा इन्हीं नेताओं की राख से तैयारकी जाती होगी। तब मायूस होने की कोई बात नहीं है। दोबारा जरूरत पड़ने तक दवा के लिए काफी कच्चा माल जमा हो जाएगा।

खरीदार

दफ्तर से लौटी तो थकान के मारे बदन टूट रहा था। आज लोकसभा में महत्त्वपूर्ण परिप्रश्न होने थे। पश्चिमी बंगाल में हाल की हुई राजनीतिक हत्याओं के बारे में गृहमंत्री को प्रश्नों के उत्तर देने थे; उन्हीं का ब्यौरा तैयार करने में लगी हुई थी। जब-जब किसी प्रसिद्धिप्राप्त व्यक्ति की हत्या के कारण मामला लोकसभा की नज़र में पड़ जाता है, बस यूं ही फाइलों को फिर खंगालना पड़ता है। पूरा हफ्ता इतना व्यस्त रही कि सुनील तक से नहीं मिल पायी।

चाय पीकर सीधा शयनकक्ष में चली आयी और बिस्तर पर लेटकर आँखें मूंद लीं। नींद के दो-चार झोंके भी आये पर पूरी तरह सो नहीं पायी। पास ही कहीं लाउडस्पीकर पर फिल्मी धुनें ज़ोर-शोर से बजे जा रही थीं। अनायास ही उसने पाया कि वह एक गीत के बजने पर उसके समाप्त होने की प्रतीक्षा कर रही है और उसके समाप्त होने पर दूसरे के आरम्भ होने की। फिर भी ज़िद करके आँखें बंद किये रही। पर फिर ठीक कमरे की खिड़की के सामने शोर इतना उत्कट हो उठा कि बहाना किये रहना नामुमकिन हो गया। वह उठकर खिड़की पर चली आयी।

छोटे कस्बे की नौचंदी की तड़क-भड़क के साथ सामने से बारात जा रही थी। विलायती बैंड की बेसुरी धुन पर तंग पतलूनें पहने लड़के शरीर को झटका दे-देकर नाच रहे थे। हंडों का तीव्र प्रकाश इस कठपुतली के तमाशे को अति नाटकीय शोभा दे रहा था। बीच में था घोड़े पर सवार नौटंकी के नायक समान सजा-धजा दूल्हा।

शादी का इश्तहार। पर आधुनिकता का पुट लिए हुए। दूल्हे का मुख खुला था। शायद सेहरा पहनने से इनकार कर दिया होगा। पर इस सर्कस-नुमा जुलूस से नहीं कर पाया। जिन्दगी में एकाध बार तो आदमी तमाशा बनता है, वर्ना तमाशबीन ही रहता है। उसने देखा, दूल्हा काफी बदसूरत है।

बदसूरत !

कितना भारी शब्द है, विशेषकर जब अपने-आपपर लागू किया जाये।

बारात आगे बढ़ गयी तो उसने दुबारा सोने का प्रयत्न नहीं किया। नींद गायब हो चुकी थी, और भीतर उमस महसूस होने लगी थी।

वह बाहर बाग में निकल आयी। हरी-हरी घास देखकर ही सिर का भारीपन कुछ कम हो गया। उसने चप्पल उतार दी और नंगे पाँव घास पर चहलकदमी करने लगी। पर कुछ ही देर में उसने महसूस किया कि घास बहुत अधिक बढ़ी हुई है। बार-बार पाँव भीतर तक धंस जाता है और साथ ही भुनगे-पतंगों का एक अम्बार उठ खड़ा होता है। कोफ्त और भी बढ़ गयी और उसने जोर से माली को आवाज लगायी। "घास काटी क्यों नहीं गयी," डपटकर पूछा।

"वह...साहब बोला था, सलफेट डलवाकर अपने सामने कटवायेगा —इसीलिए रोक रखा है..." माली ने सफाई दी।

दस दिन से सुनील नहीं आया है। वह भी इतना व्यस्त रही कि बुलवा नहीं पायी। और इस बार बिना बुलवाये नहीं आयेगा, यही तो तय हुआ था।

पिछले रविवार को उसने कहा था, "नीना जी, बहुत दिनों से कुछ कहना चाह रहा हूं। यहीं सोचकर रह जाता हूं कि जो मेरे लिए अनिवार्य है, जरूरी नहीं है कि आपके लिए भी हो। यानी, जो मैं चाहूं आप भी चाहें।"

"सो तो है," उसने स्नेह रहित कहा, "पर इतना घबराते क्यों हो, कह डालो।"

"एक बार मैंने आपसे कहा था न कि कभी-कभी विवाह अनिवार्य हो जाता है?"

"हां।"

"मेरे लिए हो गया है।"

वह चुप रह गयी।

"मैं जानता हूं, मैं बेकार किस्म का आदमी हूं," सुनील कहता गया, "पर आपने जो कहा कर ही डालें।"

"मैं…"

"नहीं, नहीं। एकदम कुछ मत कहिये। सोच लीजिये। हां करें तो बुलवा लीजियेगा, जब आप चाहें।"

पहले-पहल सुनील उसके दफ्तर आया था। कहा था, "अपना वक्त बर्बाद करने की अनुमति दीजियेगा?"

"क्या चाहिए?" उसका स्वर कठोर पड़ गया था।

"मैं अफसरों पर लेख लिख रहा हूं। कुछ प्रश्न?"

"अफसरों पर लेख! वह क्यों?" वह हंस पड़ी।

वह एकदम बुझ गया।

"वैसे मैं कविता लिखता हूं," उसने कहा।

उसे लगा जैसे किसी बच्चे को धक्का दे दिया हो।

"अच्छा! तो सुनाइयेगा कभी।"

उसका स्वर शायद ही कभी इतना मधुर रहा हो।

"पर कविता से जिया नहीं जा सकता है," वह हंस दिया।

"तब पूछिये प्रश्न।" वह स्वर को नम्र बनाये रही।

"आप सुबह कितने बजे उठती हैं?"

"बस, एक यही प्रश्न मत कीजिये।"

अब दोनों हंस पड़े।

"अच्छा…अपने काम से आप संतुष्ट हैं? अपनेको स्वतंत्र पाती हैं? व्यवस्था को सुधारने के लिए आपके सुझाव?"

उसके बाद जब भी वह आया—घर पर। और प्रश्न करने नहीं चाय पीने, साथ बैठने, गपशप करने, कविता कहने। सुनील का साथ बहुत आरामदेह है। उसमें न तनाव है न कोई दबाव।

दफ्तर से थकी-मांदी लौटती है, अगर सुनील बैठा मिल जाये, तो एक

प्रकार का संतोष होता है। और फिर बाग में आरामकुर्सियों पर बैठकर चाय पीना और साथ-साथ उसकी कविताएं आधी-पौनी सुनना भला लगता है। आगे के चन्द घण्टों का भार वह उसपर डालकर अलस निष्क्रियता का आनन्द लेती है। नौकर चाय दे जाता है, तो सुनील प्यालों में डाल देता है और वह आरामकुर्सी पर सिर टिका लेती है। फिर बात करता है तो सुनील, कविता कहता है तो सुनील, घूमने-फिरने का कार्यक्रम बनाता है तो सुनील। यही नहीं, सुनील चुप रहना भी जानता है। जब वह अधिक थकी रहती है तो वह तब तक चुप बना रहता है, जब तक वह स्वयं कुछ न पूछे। उसकी चुप्पी भी अकेलेपन से बचा लेती है। बहुत भला है सुनील। और सुन्दर भी। गेहुंआ रंग, घने रेशमी केश, मांसल लाल-लाल ओठ, गुदगुदे ओठ, खुले ओठ, फड़कते-कांपते ओठ'''।

वह और तेजी से चक्कर लगाने लगी।

"मेरे लिए अनिवार्य हो गया है," सुनील ने कहा था। "कभी-कभी अनिवार्य हो जाता है।"

उन दिन सुनील ने पूछा था, "नीना जी, आपने अब तक विवाह क्यों नहीं किया?"

"तुम तो ऐसे पूछ रहे हो जैसे कोई कहे आज खाना क्यों नहीं खाया? यह भी कोई अनिवार्य क्रिया है क्या?"

"नहीं," वह हंस दिया। "पर कभी-कभी हो जाती है।"

"कब?"

"मसलन जब प्यार हो जाये।"

"तब तो तुमसे भी पूछा जा सकता है, तुमने विवाह क्यों नहीं किया?"

"मैंने तो किया था?"

"ओह!"

"और कुछ दिन पाला-पोसा भी। क्लर्की करके। पर अधिक दिन नहीं करना पड़ा। दो वर्ष के भीतर ही बदकिस्मती से या उसकी खुशकिस्मती से, वह चल बसी। कुछ दिन तक तो लगा अगर इलाज और बढ़िया डाक्टर से कराया जाता तो बच जाती। फिर सोचा, मैं ठहरा कवि आदमी कहां

कमाने-धमाने के झंझट में पड़ता। बस, फिर चेष्टा नहीं की।"

उसकी समझ में नहीं आया क्या कहना ठीक रहेगा, इसलिए चुप रही।

सुनील ही कहता गया, "मेरी अपनी जरूरतें बहुत थोड़ी हैं। बस, एक - हो, कागज-पेंसिल हो, और दो दिन में एक दो बार खाना मिल जे।"

"और तुम बैठे-बैठे कविता लिखते रहो।"

"बैठे-बैठे क्यों, नीना जी, लेटे-लेटे। और जब...ऊब जाऊं तो बागबानी करूं। सच, जमीन चीरकर कुछ भी निकले, चाहे गुलाब चाहे आलू, मुझे बहुत भला लगता है।"

"हमारे माली तो ऐसे हैं कि गुलाब के पौधे पर ही आलू निकल आये तो भी अचरज न हो।"

"कहें तो मैं कुछ ठीक-ठाक करवा दूं?"

"करवा दो तो बड़ा आभार हो। मुझे तो देखने का वक्त ही नहीं मिलता।"

तभी से कितनी ही बार जब दफ्तर से लौटी है तो सुनील को बाग में काम करते या माली को हिदायतें देते पाया है। वाकई बाग पहले से कहीं सुन्दर और सुव्यवस्थित हो चला है। गुलाब पर तो बहार आ गयी है। उसने एक पीला गुलाब तोड़कर जूड़े में खोंस लिया।

लाउडस्पीकर पर अब फिल्मी गीत नहीं बज रहे थे। संस्कार हो रहे थे। पंडित जी बड़े चाव से गा-गाकर करा रहे थे।

वह चहलकदमी करती रही और जाने कब के भूले-बिसरे दृश्य याद आते रहे। जिन क्षणों को दस-बारह वर्ष पहले हम गहरी पीड़ा के साथ जिये होते हैं, वही समय के साथ महज डायरी के पन्ने बनकर रह जाते हैं। एक-एक पन्ना स्पष्ट होकर उसके सामने आने लगा और वह हल्के विनोद से पढ़ती गयी।

उस दिन जरूर रविवार रहा होगा। तभी कालेज की छुट्टी थी और उसने सुबह-सुबह बाल धो डाले थे। माथे पर उनका शीतल अहसास लिए वह बरामदे में बैठी पत्र-पत्रिकाएं पलट रही थी। पिछली रात वर्षा होती

रही थी, जिससे यह सुबह नवजात शिशु के समान कोमल लग रही थी। लम्बी सांस खींचकर जो ठंडी हवा भीतर भर ली थी, उसका हुलास वह अब तक महसूस कर सकती है।

मां ने आकर कहा, "तुझे एक खुशखबरी सुनानी है, वे लोग मान गये हैं।"

उसने सांस रोककर सुना और सिर्फ इतना कहा, "क्यों?"

"हमने लिख दिया है जल्दी से जल्दी तारीख निकलवा लेंगे।"

"क्यों?" उसने दुबारा कहा।

"देरी करने से क्या फायदा।"

"कितने पर हुआ?" उसने सांस छोड़ दी।

"तू उसकी फिक्र क्यों करती है? देना हमें है तुझे नहीं।" मां उदार थी।

"नहीं। मैं नहीं करूंगी।"

"क्या? मालूम है कितनी मुश्किल से हुआ है?"

"मालूम है।"

"फिर?"

"वही पूछ रही हूं न, कितने पर हुआ?"

"बीस हजार।" मां ने खीझकर कहा।

"मना लिख दो।"

"वाह," मां एकदम रुआंसी हो गयीं। "बड़ी उर्वशी का अवतार है न—मना लिख दो। बार-बार हम किसकी चौखट पर नाक रगड़ने जायेंगे।"

"जरूरत नहीं है, मैं शादी नहीं करूंगी।"

"फिर क्या करेगी?"

"सोचना होगा।"

"देख," मां अब समझाने पर उतर आयी, "यह तो दुनिया का कायदा है। पहले-पहल लड़की की सूरत देखी जाती है और लड़के की कमाई। बाद में सब ठीक हो जाता है। तेरी तरह जिद करती तो आधी लड़कियां कुआरी ही रह जातीं।"

"ठीक है मां, तुम जाओ। मेरी फिक्र छोड़ो।"

उसने अखबार उठाकर नजरें उसपर गड़ा दीं। पर क्रमबद्ध पढ़ा नहीं। बस, इधर-उधर से उठकर सुर्खियां आंखों के सामने पड़ती रहीं।

…पलामू जिले में भीषण अकाल। आसाम में फिर नर-बलि। कारोलिना, अमरीका में नब्बे वर्षीय कृषक का चौथा विवाह। हर मौके पे रंग, कोका कोला के संग। चाहिए—कायस्थ युवक के लिए, सुन्दर गोरी कायस्थ लड़की। सुन्दर रंग, आकर्षक डिजायन, खूबियां की बहार। चार अंकों की आय वाले विधुर के लिए सुन्दर स्वस्थ कन्या। सुन्दर स्वस्थ, गोरी कन्या के लिए पंजाबी ब्राह्मण वर। फुसफुसाहट-सी फुसफुसाती वाली-सिंथ।

इश्तहार और इश्तहार!

जितना खराब माल उतना ही मंहगा इश्तहार। जिन्दगी खुद एक इश्तहार बनकर रह गयी है। पूरी दुनिया दो गुटों में बंटी है—दुकानदार और खरीदार। ठीक है, मैं भी खरीदार बनूंगी, उसने तय किया। विक्रेता नहीं खरीदार!

आई० ए० एस० की परीक्षा पास करना इस मंजिल की तरफ पहला कदम था। आगे रास्ता अकेला और सपाट था। यह नहीं कि रास्ते पर कभी कदम डगमगाये ही नहीं। शुरू-शुरू में जरूर डगमगाये पर धीरे-धीरे जमने लगे।

आई० ए० एस० होस्टल जाने के लिए वह सामान बांध रही थी कि बाहर से आवाज आयी, *"गोरी बीबी जी, बादाम लेओ लाकई?"*

"हां-हां, भीतर आ जाओ," मां का स्वर अतिरिक्त रूप से मधुर था, उन्हें अपने गोरे रंग पर गर्व था।

उसने झांककर देखा, एक सांवली, लंबी सुडौल काया मस्त चाल से भीतर घुसी है पर खाली हाथ।

"बादाम हैं कहां?" मां का खीज-भरा स्वर सुनाई दिया।

"अरे या छै," और सांवली मूर्ति खिलखिलाकर हंस दी। सुनकर मंत्रमुग्ध-सी वह कमरे के बाहर निकल आयी।

तभी वह भीतर पहुंचा और गठरी नीचे पटक दी।

"कितो सोनू?" औरत ने कहा।

"दाम?" मां ने पूछा।

"चौदह रुपिये।"

"नही बारह।"

"तेरह। बोवा का टाइम छै।"

"नही बारह।"

"तेरह सै कम को नै।"

"अच्छा चलो साढ़े बारह। एक सेर तोल दो।"

इस पूरे वार्तालाप के दौरान औरत की नजरें मर्द पर ही टिकी रही। उसके कुर्ते के बटन टूटे हुए थे जिससे गले से चू रही पसीने की बूंदें नीचे तक महीन धारा बनकर फिसलती हुई दिख रही थीं। गठरी नीचे रखकर सीधे होते हुए बाह की मांसपेशियां यू फड़क उठी थीं कि लगा कपड़े के बाहर फट पड़ेंगी।

"अब कै मैं उठाऊंगी," औरत ने बादाम तोलते-तोलते कहा।

"अरी जा," मर्द ने सिर्फ इतना ही कहा पर उसे लगा कुछ अश्लील घट गया। प्रेम-खिलवाड़ यू सबके सामने।

औरत मुस्करा दी। वह कमरे में लौट आयी और देर तक शीशे के सामने खड़ी रही। चाहा ठीक उसकी तरह वह भी मुस्कराये। पर समझने में देर नही लगी कि ओठो को खींच देने से ही मुस्कराहट नही बन जाती। उस औरत मे क्या है, वह देर तक सोचती रही। वह सुन्दर नही है, गोरी नहीं है, शायद स्वस्थ भी न हो। फिर क्या है जो उसकी हंसी को इस कदर दिलकश बना रहा है, क्या आकर्षण है जो धुधियाले प्रकाश के समान उसके शरीर से फूट रहा है?

उसने साड़ी संभाली और पल्लू को बदन पर कस लिया। साथ ही कभी सुनी फुसफुसाहट मानस पर उभर आई...."नाक-नक्शा तो जो है सो है, चलो निभ भी जाये—पर इसकी तो छातिया..."

नहीं, उसने फिर तय किया। 'यह बिक्री का माल नही है। मैं खरीदार बनूंगी। विक्रेता नही, खरीदार।

दूसरा कदम उठा, जब वह प्रशिक्षा समाप्त करके मैसूर के एक छोटे कस्बे मे सहायक कमिश्नर नियुक्त हुई। यूं तो कदम सभी प्रशिक्षार्थियों ने उठाया पर महिलाओं मे से अधिकांश ने या तो विवाह-उपरान्त कर्मक्षेत्र से

त्यागपत्र दे दिया या फिर वरिष्ठ पदवी से सुशोभित अफसर पति के मातहत पदवियां स्वीकार लीं। पर वह सकल्प और निष्ठा के साथ एकाकी पथ पर चलती गयी। आज वह गृह मंत्रालय में संयुक्त सचिव है। वह न स्त्री है, न पुरुष, बस एक कुर्सी है।

ललचाई नजरों से पुरुषों ने उसे कभी नहीं देखा, अब अग्राह्य दृष्टि से देखना भी बंद होने लगा है। समझने लगे हैं कि वह विवेकशील है,कर्मकुशल है, स्त्री है तो क्या। उसे काम सौंपना होता है, सौंपकर उसकी क्षमता पर विश्वास करना होता है, यही नहीं काम करते समय उसके आदेशों का भी पालन करना होता है। उसको बेवकूफ नहीं बनाया जा सकता, बनाने की इच्छा नहीं होती।

यह सब एकदम नहीं हो गया। काम संभालने के उन प्रारम्भिक दिनों को याद करके वह हंसे बगैर नहीं रह पाती। मैंपुर के उस छोटे कस्बे में सहायक कमिश्नर बनकर जाने पर सबसे पहली मुलाकात वहां के ए० एस० पी० साहब से हुई थी। क्या रौबदार आदमी था! भरा-पूरा शरीर, लाल मुख और उसपर घनी-पैनी मूछें। मानो पुलिस अफसर ही नहीं पुलिस अफसरी का इश्तहार हो। उन्होंने एक चुभती नजर इस दुबली-पतली बदसूरत लड़की पर डाली और कहा, "ए० सी० साहिबा को नमस्कार करता हूं।"

"साहिबा" पर हल्का-सा जोर दिया गया था जिसने सीधे-सादे अभिवादन को गाली का रूप दे दिया।

"नमस्कार," उसने निहायत औपचारिक स्वर में बिना मुस्कराये कहा, "कैसा है यह प्रदेश?"

"काफी सुरक्षित है।" यानी एक औरत की पहली दिलचस्पी अपनी सुरक्षा में ही तो होगी।

"कोई खास समस्या?"

"नम्बर एक—अनधिकार मद्यकरण, नम्बर दो—हर तीसरे साल सूखा और भूख। भुखमरी शब्द का प्रयोग निषिद्ध है।"

"आप अनधिकार मद्यकरण को भूख से पहले रख रहे हैं?"

"मैं पुलिस में हूं।"

"अपराध चार्ट दिखाइये।"

"आपने देखा, इस प्रदेश में हत्या का नम्बर मद्यकरण, चोरी और बलात्कार के बाद आता है।"

उनकी नजर एक बार ऊपर से नीचे तक उसके शरीर पर घूम गयी, कहा, "शायद यहां की स्त्रियां कुछ ज्यादा सुन्दर हैं।"

उसका पूरा शरीर भक से जल उठा, चेहरा तमतमा गया पर उसने कुछ भी कहने से अपनेको रोक लिया।

"यहां की लम्बाड़ी आदिजाति अपराधी आदिजातियों के अन्तर्गत आती है", ए० एस० पी० साहब ने ही आगे कहा।

"अपराधी आदिजाति से क्या मतलब है आपका?" उसने कठोर स्वर में पूछा।

"यही कि अधिकतर अपराध लम्बाड़ियों द्वारा किये जाते हैं या यह कि वह अपराध करते ही रहते हैं।" ए० स० पी० ने लापरवाही से कहा।

"अपराधी आप-हम भी हो सकते हैं। इससे क्या पूरे पुलिस फोर्स को अपराधी वर्ग घोषित कर दिया जाये? इंसान को वर्ग से अलग रखना चाहिए।"

"जी," वह मुस्करा दिये। किताबी बातें।

"मैं लम्बाड़ी गावों का दौरा करना चाहती हूं।"

"तांडों तक गाड़ी नहीं जा सकती।" उन्होंने ऐसे कहा जैसे बहस शुरू होने से पहले ही समाप्त कर रहे हो।

"तब पैदल ही चलेंगे।"

"घोडा जाता है।" उनकी आंखें चमक रही थीं।

"ठीक है, घोड़े पर चलेंगे।"

सबसे पहले ताडे पर वही पहुंची थी। ए० एस० पी० के पहुंचने तक वह पेड़ के सहारे बैठी थर्मस से ठण्डा पानी उडेलकर पी रही थी। एकदम तरोताजा दिख रही थी।

"थक गये क्या? पानी?" उसने थर्मस आगे करके कहा और उनके घोड़े से उतरने से पहले ही कूदकर खडी हो गयी

ए० एस० पी० का स्थूल चेहरा पसीने से लथपथ था।

"चलें?" उसने कहा–

वह बेचारे क्या जानें कि घोड़े पर सवार होते ही उनका स्त्रीत्व ही और हो जाता है। वह पूर्णतया स्वतंत्र, आत्मनिर्भर, सहायहीन हो उठती है। जैसे केवल इस भव्य जन्तु को ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि को भगाये लिए जा रही हो। चेहरे पर हवा के थपेड़े, शरीर पर भागते पैरों से हिचकोले, हाथों में सत्ता-स्वरूप लगाम, और बराबर से सरपट भागती वादियां।

पर ए० एस० पी० थे उदार। ईर्ष्या नहीं थी, मान ही दिया।

बाद में हंसते-हंसते खुद ही कहा था, "वैसे ताड़े तक जीप भी जा सकती है।"

"जानती हूं।"

और दोनों हंस पड़े थे।

उस दिन की स्मृति पर आज भी हंसी आ गयी पर फौरन ही वह गम्भीर हो गयी।

ए० एस० पी० ने उसे पूर्ण रूप से स्वीकार तब भी नहीं किया था। वह किया दंगे के बाद।

आंधी के समान वह उसके कमरे में घुस आया था, "गोली चलाने के लिए आपके आर्डर चाहिए। दो आदिवासी गुटों में दंगा हो गया है। पुलिस···"

"मैं चलती हूं," वह बीच ही में उठ खड़ी हुई।

"वह औरतों के लायक जगह नहीं है," उन्होंने रुखाई से कहा।

"मैं ए० सी० हूं," उसने उतनी ही नर्मी से कहा और आगे बढ़ गयी।

"बीच-बचाव करते-करते अब पुलिस ही पिट रही है। काफी कर्मचारी घायल हो चुके हैं। गोली चलाने के सिवा कोई रास्ता नहीं है", जीप चलाते-चलाते उन्होंने कहा।

"देख लेते हैं," उसने कहा।

"यह दयाभाव दिखाने का समय नहीं है, अनुशासन का है।" वह बेहद खीज रहे थे।

"दयाभाव अनुशासन से अलग नहीं है" उसने स्वर को कोमल बनाये रखा था।

दूर से जलते घरों की पृष्ठभूमि में लाठी चलाती काली आकृतियां एक

कुशल छाया-नाटक का आभास दे रही थी। पर पृथ्वी पर लोटती पुलिस वर्दी और पास बह रहा लाल-लाल रक्त कुछ और ही था। वर्दी के ऊपर जहां कुचला-कुचला लोथ पड़ा था, वहां सिर रहा होगा। नहीं, वही सिर था!

उसे इतनी जोर से उबकाई आयी कि दोनों हाथ मुंह पर रखकर दबा देने पड़े। पसीने की ठंडक से सिहरकर उसका पूरा शरीर एकबारगी कांप गया। मन हुआ आंखें कसकर मूंद ले और चिल्लाकर कहे, "वापस करो जीप! जल्दी! जल्दी!"

"गोली चलानी होगी।" ए० एस० पी० के ठण्डे स्वर ने उसे बचा लिया।

एक रूक्ष झिड़की के साथ उसने शरीर को ललकारा और आंखें पूरी खोल लीं।

"नहीं।"

उसके स्वर में ललकार बाकी थी, "माइक मुझे दीजिये। जीप आगे बढ़ाइये।"

वह माइक थामकर खड़ी हो गयी।

"बैठी रहिये," ए० एस० पी० ने सख्ती से कहा।

"जीप आगे बढ़ाइये।" उसने कहा।

ए० एस० पी० ने कन्धे झटक दिये और तूफान की तेजी के साथ जीप को आगे झोंक दिया। उसके पीछे हथियारबन्द पुलिस से भरी तीन और गाड़ियां दौड़ीं। उनकी झपेट से बचने के लिए लोगों ने अनायास ही रास्ता दे दिया पर फौरन ही गाड़ियां घिर गयीं।

"मैं चेतावनी दे रही हूं। एक मिनट के भीतर आप नहीं हटे तो गोली चला दी जायेगी।"

लोगों ने आश्चर्य से सुना—औरत की आवाज! तभी एक झनझनाता पत्थर आकर सीधा उसके कन्धे पर लगा। चटपट आवाज के साथ उसका शरीर आगे झूल गया, पैर उखड़ पड़े। पर उसने माइक छोड़ा नहीं, और कसकर थाम लिया। शरीर को झिंझोड़कर सीधा कर लिया और ओठों तक आई चीख को भीतर घोंट दिया। 'कुछ नहीं, बेहोश होने से काम

नहीं चलेगा,' उसने सिर पर हावी होने वाले बादल को जबरदस्ती हटा दिया।

"तीस सेकेण्ड और। फिर गोली चला दी जाएगी!" उसका स्वर अब सिर्फ एक ललकार था, "मैं गिन रही हूं। एक-दो-तीन-चार-पांच…"

हर अंक के साथ उसकी श्वेत साड़ी पर फैला लाल धब्बा बढ़ता जा रहा था। वह जान नहीं पाई कि अन्त में गिनती कहां तक बढ़ी।

"गोली तो नहीं चलानी पड़ी।" होश आते उसने पूछा।

"हिलिये मत। पट्टी कर रहा हूं।" डाक्टर ने हिदायत की।

"कहो!" ए० एस० पी० ने कहा, "आर्डर देने से पहले ही आप बेहोश हो गई थीं।" उन्होंने स्वर सपाट रखा पर मुस्कराहट नहीं रोक पाये। वह भी मुस्करा दी। फिर दोनों हंस पड़े।

बड़े भले थे वे दिन। चढ़ाई ही चढ़ाई। फिर मंजिल।

आज उसके पास सब कुछ है। गाड़ी है, बंगला है, नौकर-चाकर हैं, क्लब की सदस्यता है, सभा-समारोह के निमंत्रण हैं। सफलता का अपना एक रूप होता है, वह भी उसके पास है। उसकी चाल में आत्मनिर्भरता है, आवाज में रौब और चेहरे पर प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाप। सबसे बड़ी बात यह कि वह जानती है कि उसके कुछ कहने पर लोगों को झुकना होगा, ध्यान देना होगा, उसकी ओर देखना होगा। चाहे दफ्तर हो चाहे बैठक। 'औरतें क्या जानें यह जंजाल' कहकर बात को उड़ा नहीं सकेंगे। उसके पास सब कुछ है। और जो नहीं है, कभी भी ले सकती है।

कल ही सुनील को बुलवायेगी। पिछले हफ्ते उतना सोचा नहीं। वक्त ही नहीं मिला। पर अब अकेले-अकेले अच्छा नहीं लग रहा। और सुनील सचमुच अच्छा लड़का है—सुन्दर और निष्कपट। फिर कल क्यों? आज ही सही। आखिर वह अब एक खरीदार है।

प्रतिध्वनि

"मेरे साथ गाओ—हाईया।"
"हाईया।"
"ताली बजाओ—क्लैप-क्लैप-क्लैप।"
"क्लैप। क्लैप। क्लैप।"
"हाईया।"
"हाईया।"
थिरकते कदम।
बल खाते बदन।
सिरों के ऊपर उठे सर्पीले सरसराते हाथ।
त्ता-त्ता बजती हथेलियां।
धमक देते पांव
झटका खाते बदन।
तेज। और तेज। और—और तेज।
हाईया। हाईया। हाईया।
धम—धम—धम।
लहराता, बलखाता, तड़फड़ाता उसका बदन।
कंपकंपाता, थरथराता, टेरता उसका स्वर।
लय? ताल? सुर?
हाईया—हाईया—हाईया।
एक के साथ एक

शोर का सम्मोहन ।
भीड़ का सम्मोहन ।
सटे अंगों का सम्मोहन ।
विवेक से परे, अनायास आदेश पालन का सम्मोहन ।
एक मैं ही तो नहीं बहक रहा ।
एक मैं ही तो नहीं ताली पीट रहा ।
एक मैं ही तो नहीं झूम रहा ।
एक मैं ही तो नहीं चीख रहा ।
मेरे साथ भीड़ है ।
मेरे साथ नेता है ।
हुक्म वह देता है,
ताली बजाओ-त्ता-त्ता-त्ता ।
मैं नहीं बजाता : वे बजाते हैं ।
मैं तो सिर्फ अनुसरण करता हूं ।
आदेश वह देता है,
मिलकर गाओ—हाईया !
मैं नहीं चिल्लाता · वे चीख पड़ते हैं ।
मैं तो सिर्फ चीत्कार-सा फूट पड़ता हूं ।
जिम्मेदारी उसकी है, मेरी नहीं ।
वे भी यही सोचते हैं ।
नहीं, सोचते नहीं, महसूस करते हैं ।
उनका सोचना कितना सकुचित है, वे जानते हैं
मैं भी जानता हूं ।
उस सोच के दायरे में बाहर से आकर भी वे दायरों में बन्द रहते हैं ।
मैं भी रहता हूं ।
अगर कोई कहने वाला न हो तो वे क्या इस तरह कूद सकते हैं, झूम सकते है, चीख सकते हैं ?

वे बहना नहीं जानते, सिर्फ उछलना जानते है—

वे लहर नहीं हैं, तरंग नहीं है, हिलोर नहीं हैं।
वे तो ठहरे पानी में बास सरीखे हैं—
धकेल दो, आगे सरक जायेंगे।
खींच लो, पीछे पलट आयेंगे।
डोरी फंसाकर घुमा दो, चकरघिन्नी पर चकरघिन्नी खाते चले
जायेंगे : तब तक जब डोरी वापस न खींच लो।
सम्मोहन तोड़ दो, लट्टू रुक जायेंगे।
कितना आसान है—
उनके घूमने की धुरी एक बिन्दु है न।
वे इस चौकोर दायरे से बाहर नहीं भाग सके।
कोशिश ही नहीं की उन्होंने।
क्यों करे ?
वे अलग-अलग व्यक्ति नहीं, समूह के अवयव मात्र है।
और समूह उसकी डोरी से बंधा उसकी आवाज में कैद है।
सम्मोहन समूह में है : साथ देने में है।
होने के एहसास को छोड़कर होने में है।
उस दायरे के बीच जीने में है जहां कोई सवाल नहीं करता :
तुम क्यों हो ? यहां क्यों हो ? तुम ऐसे क्यों हो ? इस हालत में क्यों हो?
सिर्फ कहता है : तुम यह हो, यहां रहो, ऐसे करो,
इस हालत में रहते चलो।

जब तक नगाड़े पर धमक पड़ रही है :
जब तक गिटार की रगें तड़प रही है :
वे लोग यूं ही झूमेंगे, झूलेंगे, झटका खायेंगे—
आदेशों की थाप थम जाने पर सीधे होकर अपनी-अपनी
सीटों पर जा बैठेंगे।
पेशानी पर आया पसीना पोछेंगे और···सम्मोहन टूट जायेगा।
अपने-अपने घर जाकर वे अपने कुण्ठित व्यक्तित्वों की
जंजीरों में जकड़े अपनी-अपनी दिनचर्या में जुट जायेंगे।

वे न भी जानें कि उन जंजीरों को उनके चारों तरफ
कसने में उसीका हाथ है, उस सम्मोहन का जो उन्हें
भीड़ का अंग बनाता है : तो क्या हुआ ?
वे और ही क्या जानते हैं ?
वे तो सिर्फ महसूस करते हैं : अपना होना।
अलग से नहीं, सम्मोहित समूह के अंश रूप में
"कृष्ण-कृष्ण ! हरे कृष्ण !"
"कृष्ण-कृष्ण ! हरे कृष्ण !"
"तुम जो राधा होते श्याम···"
"तुम जो राधा होते श्याम···"
"तुम जो···"
"जो तुम···"
"राधा होते श्याम। श्याम-श्याम। राधा-श्याम !"
"श्याम-श्याम ! राधा-श्याम !"
झूम-झूम लड़खड़ाते कदम।
बल खाते गेरुआ चोले।
इधर-उधर लरजते हाथ
दायें-बायें झूलती गरदन।
सुलगती-सम्मोहित चितवन।
"कृष्ण-कृष्ण ! कृष्ण-कृष्ण !"
"कृष्ण-कृष्ण ! कृष्ण-कृष्ण !"
लस्त-पस्त पड़ते पांव

सिरों के ऊपर उठे सर्पीले सरसराते हाथ
ता-ता बजती हथेलियां।
घण्टियां टुनटुनाओ। मंजीरे खनखनाओ।
ढोलकी पर थाप दो।
"कृष्ण-कृष्ण ! राधे-कृष्ण !"
भगवान है : भगवान का अवतार है।

यह कहता है, है।
वे नहीं जानते : उन्होंने नहीं देखा : वे समझना नहीं चाहते।
वे तो सुन रहे हैं और महसूस कर रहे हैं :
भगवान है : भगवान का अवतार है। वह कहता है, है।
भगवान व्यक्ति के लिए नहीं होता।
वह समूह का संचालक है।
वे व्यक्ति नहीं हैं : समूह के अंग हैं।
संचालित होने में कितना आनन्द है—
मुक्ति ? नहीं-नहीं, निर्वाण।
कोई रोक नहीं, रुकावट नहीं।
अपने अंगों तक पर अंकुश नहीं।
जिधर पड़ते हैं पड़ने दो
हाथ-पांव ही हैं न।
आह, कोई और चलाए तो डगमगा कर चलने में भी
कोई अपराध बोध नहीं।
भगवान है, यह कहता है, है।
बहक लो जितना वह बहकाए, फिर भी तुम गुमराह नहीं।
करो-करो, जो वह कराता है, करो।
सुनो-सुनो, जो वह सुनाता है, सुनो।
उसकी मानो, भगवान है।
भजो राधे-कृष्ण। राधे-कृष्ण।
तुम जो राधा होते श्याम…
तुम जो
जो तुम…
राधा होते श्याम…

"इन्कलाब-जिन्दाबाद !"
"जिन्दाबाद ! जिन्दाबाद !"
मैं जिन्दाबाद।

मेरा होना जिन्दाबाद
बायें-दायें। सामने देख।
ठक-ठक। ठक-ठक।
जूतों की ठमक।
सीधे तने बदन।
झण्डा फटकारते हाथ।
इन्कलाब! इन्कलाब! इन्कलाब!
जिन्दाबाद! जिन्दाबाद! जिन्दाबाद!
एक के पीछे एक।
सिरों की कतार।
पताकाओं का हुजूम।
धमकते कदमों का जुलूस।
फड़कते नारों का शोर।
सिरों के ऊपर उठे सर्पीले सरसराते हाथ
लाल-रता बजती हथेलियां।

जिन्दाबाद—जिन्दाबाद—जिन्दाबाद!
जिन्दाबाद कौन?
वे नहीं जानते। जानना नहीं चाहते।
वे तो बस सुन रहे हैं। भड़क रहे हैं: चीख रहे हैं
धधक रहे हैं। वह कहता है: आगे बढ़ो।
वह कहता है: जला डालो।
वे आग सुलगा रहे हैं।
वह कहता है: तहस-नहस कर डालो।
वे गोली चला रहे हैं।
वे उस सरहद पर मंडरा रहे हैं जहां कोई सवाल
नहीं करता। तुम क्यों बढ़ रहे हो: सुलग रहे हो: झपट
रहे हो? वह कहता है: मैं हूं।
तुम हो क्योंकि मैं हूं।

जो मैं कहूं, करो।
कहीं ऐसा न हो, मैं न रहूं।
फिर तुम्हारा क्या होगा?
तुम हो क्योंकि एकसाथ हो—और मेरे पीछे हो।
आगे का रास्ता अनजान है
मेरे बिना तुम कैसे जानोगे कि रास्ता किधर जाता है?
तुम बट जाओगे : बटकर बिखर जाओगे : बिखरकर
व्यक्ति बन जाओगे।
उन्हीं संकुचित दायरों में कैद व्यक्ति जहां तुम्हारे हर
कदम की जिम्मेदारी तुम्हारे अपने कन्धों पर होगी।
यहां जिम्मेदारी मुझपर है।
तुम्हें सिर्फ कदम से कदम मिलाकर चलना है।
साथ बढ़ते कदमों का सम्मोहन :
साथ उछलते नारों का सम्मोहन :
साथ होने का सम्मोहन :
क्या कम है?
वह है।

वह जिन्दाबाद!
उसका होना जिन्दाबाद!
अनेक के पहले एक।
एक के पीछे अनेक।
अनेक से सिमटकर एक।
सम्मोहित अनेक। सम्मोहन एक।
ताली बजाओ : क्लैप-क्लैप-क्लैप।
तान लगाओ : कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण,
नारा उठाओ : जिन्दाबाद-जिन्दाबाद-जिन्दाबाद।

कौन दर्शक?

कैसा प्रश्न ?
किसका निर्णय ?
चुनाव कर लो।
अधिकार है तुम्हें।
जिसकी भी प्रतिध्वनि बनकर जीना चाहते हो :
जी सकते हो।

संज्ञा

मेरे पास एक छोटा-सा शीशा है। मैं हमेशा उसे साथ रखती हूं। पर्स में। जब-तब निकालकर उसमें देख लेती हूं।

लोगों का खयाल है, मुझे अपनी सूरत पर बहुत नाज है। शायद मुझे नर्गिसी मुगालता हो। कम से कम अपनी सूरत बुरी तो न लगती होगी, मुझे। तभी न, जब-तब शीशा निकालकर देख लेती हूं।

क्या देखती हूं शीशे में ? अपनी सूरत ?

सामने वाला भी क्या खूब शै होता है। एक नजर देखा और कयास लगा लिया; दो बार देखा, परख लिया। और कहीं तीन-चार बार देख ले तो कहना ही क्या। इस तरह बाल की खाल तक पहुंचेगा कि बाल भले ही निकल जाए, खाल जरूर हाथों में रह जायेगी।

हां, तो···क्या देखती हूं मैं शीशे में ? अपनी सूरत ?

अच्छा, आपने कभी अपनी सूरत देखी है शीशे में ? देखी तो जरूर होगी। मन करता है, बार-बार देखने को ? डर नहीं लगता ? यह जो दायें की जगह बायें और बायें की जगह दायें इंसान वापस तुम्हारी तरफ ताक रहा है : कौन है यह ? तुम ? सच ? यकीन आ जाता है ? नफरत नहीं होती ?

एक बात है। अगर शीशा न होता तो हम अपनी सूरत खुद न देख पाते। हमेशा अपनेको दूसरों की नजरों से देखते। कोई कहता—तुम सुन्दर हो, निहायत सुन्दर, वाकई सुन्दर, बेपनाह सुन्दर - क्लियोपेट्रा की तरह : नर्गिस की तरह : पहाड़ की बर्फीली चोटी पर पड़ रही सूरज की डूबती

किरणों की लाली की तरह और तुम यकीन कर लेते । कोई तुम्हारा चित्र बना देता बना क्या देता, कह भर देता चित्र तुम्हारा है, और तुम फिर यकीन कर लेते । चित्र क्लियोपेट्रा का होता तो तुम्हारा पद्मिनी का होता तो तुम्हारा नूरजहां का होता तो तुम्हारा । और फिर क्लियोपेट्रा, पद्मिनी, नूरजहां को भी तो, हमने चित्रों में ही देखा है । कौन जाने, ऐसे ही किसी-ने बनाए हों । अपनी नजरों से देखकर । या अपनी नजरों पर परदा डाल-कर । देखो या परदा डालो, एक ही बात है ।

पर इसान की बेवकूफी की भला कोई हद है ! अपनी सूरत देखने का ऐसा चाव कि ईजाद कर ही डाला शीशा । और वह तो, खैर, जब बना तब बना, पहले क्या था ? सूरत देखनी थी सो देखनी थी । चाहे पानी के पोखर में देखो चाहे पत्थर के चमचमाते टुकड़े में ।

और आखिर बन गया न, शीशा । आदमकद ही नहीं, छोटे से छोटा भी । पर्स में डालकर जहां चाहे ले जाओ । जब चाहो, निकालकर सामने रख लो···और अपनी सूरत देख लो । खौफ खाओ, नफरत करो, तरह-तरह के चेहरे बनाओ, नकली मुखौटों से असली चेहरे को ढकने की नाकाम कोशिश करो । तुम्हारी मर्जी ।

सामने वाला तो यही समझेगा, तुम्हें अपनी सूरत पर नाज है ।

···मैं जब-जब पर्स में से शीशा निकालकर देखने लगती हूं । छोटा-सा शीशा है मेरे पास । मामूली-सा । नीले टीन के फ्रेम में जड़ा । मेरे हाथ में रहता है तो सामने वाले के आगे उसका टीन का नीला हिस्सा रहता है । समझ तो जाता है; है जरूर शीशा । सोचता है, बड़ा गरूर है अपनी सूरत पर ।

सोचता होगा । उस वक्त मेरे जेहन में वह होता ही कहां है ? वह सब तो मैं बाद में सोचती हूं । जब हंसने को मन होता है । क्या करूं, हंसी उधार रखनी पड़ती है । जब कभी मन हुआ, पुराना वाकया याद कर लिया और हंस लिये । हंसने को मन हो और हंसने का सबब न मिले तो कितना खौफ-नाक होगा, जानते हो ?

तब रोना पड़ेगा । और रोना हंसी की तरह जल्दी थमता नहीं । नये-

नये सबब भी नहीं मागता। अगर किसी दिन मैं रोना शुरू कर दूं; जानते हो क्या होगा?

कुछ नहीं होगा।

अभी-अभी मैं कहने वाली थी, अगर एक दिन अपनी तमाम जमी व्यथा पिघलाकर मैं रो दूं तो इतना पानी बहे, इतना पानी बरसे कि प्रलय हो जाए। सृष्टि जलमग्न हो जाए। पुनर्निर्माण जरूरी हो जाये। पर तभी अपनी बात पर मुझे हंसी आ गयी।

बित्ते-भर का आदमी! नब्बे फी सदी पानी हुआ भी तो क्या। कितना बरसेगा? कितना बहेगा? चरमराकर टूट जायेगा। सूखी टहनी-सा पड़ा रहेगा, बेकार। ऐसे कहीं प्रलय होती है!

कोई डर नहीं है। मुझे ऐसे ही हंसी आती रही तो कोई डर नहीं है। मैं अगर एक दिन रो भी दूं तो कुछ नहीं होगा।

···पर बात शीशे की हो रही थी। हां···तो···मैं याद करके खूब हंसती हूं। सामने वाला सोच रहा होगा, कितना घमण्ड है अपनी सूरत पर। पर उसका क्या कसूर? वह मेरे शीशे का राज जानता कहां है? कोई नहीं जानता।

आज तुम्हें बतला रही हूं। पर राज को राज रखना। अपने तक। पोशीदा। वरना मैं जी नहीं पाऊंगी।

बात यह है; यह शीशा देखने में चाहे जितना मामूली हो, वाकई है नहीं। उसमें मुझे अपनी सूरत नहीं दिखती। वह तो बहाना है। अपने चेहरे के आगे जो शीशा कर लूं···बस···मुझे वह दिखलाई देने लगता है। शीशे में। करिश्मा यह है कि और सब दिखलाई देना बन्द हो जाता है। सामने वाला, मेज-कुर्सी, मेहमान-मेजबान, सिनेमा-थियेटर, साड़ी-जेवर: यानी जो कुछ सामने हो, दिखना बन्द। तमाम दुनिया नेस्तनाबूद। और वह··· वही वह···चेहरे का एक-एक कोण: ओठों की एक-एक सिलवट, आंखों में आती-जाती कौंध, जो खुद उसने नहीं देखी।

कैसे देखेगा? उस वक्त क्या शीशा देखना याद रहता है?

देखा है वह सब, तो सिर्फ मैंने या मेरे शीशे ने। नहीं, शीशे ने कैसे?

शीशे मे मैंने। शीशे की भला क्या हस्ती ? जब तक शीशा है, मामूली चीज है; नीले टीन के फ्रेम मे जड़ा, चार इंच का छोटा-सा पत्थर का टुकड़ा। और जब शीशा नहीं है तो वह है : जिसे सिर्फ मैंने देखा है।

पर किसीसे कहना नहीं। जादुई तिलिस्म कहीं टूट न जाये। सामने वाला मुझे दीख न उठे।

अच्छा···जानते हो आज क्या हुआ ?

सामने वाले ने कहा, "मैं तुम्हें प्यार करता हूं।"

मैं मुस्कराई। शीशा निकाला, उसमे देखा और कहा, "इतने दिन बाद कह रहे हो।"

सामने वाले ने खुश होकर कहा, "डरता था।"

मैं हंस दी। शीशे मे झांका और कहा, "तुम और डर ? कब से ?"

सामने वाले की छाती फूल गयी। "हां," उसने कहा, "डरपोक मैं बिल्कुल नहीं हूं। पर पता नहीं क्यों, तुमसे डर लगता था।"

मैं खिलखिलाकर हंस दी, कहा, "अब मत डरना।"

"सच ?" सामने वाला बोला।

"अरे, यह 'सच' ···पूछने की आदत कब डाली ? पहले तो तुम मेरी हर बात को फौरन सच मान लेते थे। याद है···" मैंने शीशे में आंखें मिलाकर कहा।

और इस बार शीशा बोल ही पड़ा।

"हां," साफ आवाज आयी, "जब तुमने कहा था हमारा बारहवां बच्चा होने वाला है, तब भी मैंने झट मान लिया था।"

"हालांकि पहले ग्यारह थे नहीं···" मैंने कहा है, खूब हंसकर।

"थे क्यों नहीं ? बारह साल मे क्या ग्यारह बच्चे भी नहीं होंगे ?"

"बारह साल ? बारह साल हो गये मुझे, तुम्हें जाने ?"

"और क्या ! इतना सीधा-सा तो हिसाब है। बच्चे गिनकर देख लो।"

"पर हैं कहां ? दीखें तब न ?"

"अच्छा···अब कोशिश करो···दिखे या नहीं ?"

"नहीं ! सिर्फ तुम दीख रहे हो।"

"अरे, जरा जोर लगाओ न।"

"लगा तो लिया। कुछ नहीं होता। सिर्फ तुम दिखते हो।"

"सिर्फ मैं ?"

"सिर्फ तुम।"

"कब से ?"

"बारह साल से।"

"बारह साल ? बारह साल हो गये हमें मिले ?"

"तुम्हींने तो कहा था। मैं क्या जिन्दगी का हिसाब रखती हूं ? मैं तो इतना ही जानती हूं : जब से जिन्दा हूं तुम दिख रहे हो।"

"अच्छा···याद है···" शीशे ने लरजकर कहा, "वह दिन, जब तुमने मेरे मुह पर तमाचा मारा था ?"

"धत !"

"धत क्या। मारा नहीं था ?"

"मारा था तो क्या हुआ ? याद क्यों रखू ?"

"वाह, मुझे जो याद है।" मैंने बस इतना कहा था : "मां कहती थी औरत पर कभी हाथ मत उठाओ चाहे वह तुम्हारी नाक में दम ही क्यों न कर दे। ऐ खुदाया, मेरी मदद कर। यह औरत कुछ भी करे मैं अपनी मा की हिदायत याद रख सकूं। बस, इतना ही कहा था मैंने, और तुम्हारी तरफ ताका-भर था कि तुमने तड़ से मेरे मुह पर तमाचा जड़ दिया।"

"तो तुमने कहा क्यों ?"

"फिर···मैंने क्या किया था, याद है ?"

"हां ! वह याद है। तुमने मेरा हाथ थामकर चूम लिया था और कहा था—'मेरी मां की रूह को सुकून पहुंचाने के लिए शुक्रिया।"

कहते-कहते मेरे ओठ कांप गये, आंखों में लाल डोरे उभर आए और उस तिलिस्मी सूरत को छूने को बेकरार मेरा हाथ खुद-ब-खुद आगे बढ गया।

थर्राकर मैंने हाथ पीछे खींच लिया। गिनगिला-सा कुछ रेंग गया था उसके

ऊपर। मैंने देखा···सामने वाले के हाथ के नीचे से तड़फड़ाकर मेरा हाथ बाहर आया है।

"कौन हो तुम?" मैंने कहा।

"मैं···मैं···" वह हकलाया फिर सम्भल गया, "इतनी देर से बातें तो कर रही हो मुझसे।"

"तुमने?"

"और किससे?"

"तुमसे? तुम हो कौन?"

"तो फिर और कौन यहां है?"

मैं पल-भर रुकी।

"कोई नहीं," मैंने कहा, "कोई नहीं···और तुम तो बिल्कुल नहीं।"

मैंने शीशे में देखा। वह हंस रहा है। खूब हंस रहा है।

"जाने भी दो," हंसकर कह रहा है, "छोड़ो।"

उसके साथ मैं भी हंस दी।

"छोड़ो," मैंने कहा, "जाने दो···और मैं भी जाऊंगी।"

मैं उठ गयी।

जादुई तिलिस्म टूटा नहीं। शीशे का राज़ पोशीदा है।

आप याद रखेंगे न? किसीसे कहना नहीं है। राज़ राज़ रहा तो शीशा मेरे पास बना रहेगा और···वह भी। बारह साल का बिछुड़ा। शीशे में कैद। मेरा हमदम।

सार्त्र कहता है

कमरे में जितने लोग बैठे हैं, सबके चेहरों पर दाढ़ी है। आंखें कहीं न देखती हुई देख रही हैं। ये दिमाग के भरोसे जीने वाले लोग हैं। इनके बदन बेपरवाह अन्दाज मे कुर्सियों पर फिके रहते हैं। इनकी आंखें एक-दूसरे के बदनों को चीरकर वहां देखा करती हैं जहां एक दिन इनके नाम की तख्ती लटक रही होगी। दिल इनके लिए मांसपेशियों का गुंजलक-भर है जो देह का खून साफ करके वापस देह की शिराओं मे फेंका करता है। दिमाग को दिमागी कसरत के लिए खून मिलता रहे···

जलजलों से नावाकिफ इनके दिल हमेशा एक रफ्तार पर धड़का करते हैं। आंखों के सामने मर रहे आदमी के चेहरे से फिसलकर इनकी निगाहें दूर देखा करती हैं। सार्त्र क्या कहता है ? मार्क्स ने क्या कहा ? इसे मरता देखकर सार्त्र क्या कहेगा···मार्क्स क्या कहता···हमें क्या कहना चाहिए···

मैं भी इनमें से एक हूं। मेरे चेहरे पर दाढ़ी नहीं, ऐनक है।

मेरी नजर कमजोर है···दूर का नहीं दीखता। इसलिए ऐनक है। पर···ये लोग नहीं जानते, मैंने दूर देखने वाली ऐनक न लेकर पास की नजर की कमजोरी ढकने वाली ऐनक ले रखी है। इसे लगाते ही मुझे न दूर का दीखता है न पास का। मैं एहसानमन्द हूं अपनी कमजोर नजर की···अपने गलत चश्मे की। मेरी आंखें कमरे के तमाम चेहरों को भेद कर···

तो···मार्क्स ने कहा था···सार्त्र कहता है···

मेरा बदन बेफिक्र अदा मे कुर्सी पर बिछा हुआ है···मेरा दिमाग

दिमागी खुराक खा रहा है···मेरी आखें ··पर मेरी आखें !

घर से चली तो दरवाजे पर एक लिफाफा पडा मिला था। सरकारी लिफाफा। सादा· ·मटमैला···लम्बूतरा···दफ्तरी···धुधला।

खोल लेंगे। ऐसे लिफाफे जलजले नहीं लाते···दिल एक रफ्तार पर धड़का करता है···मासपेशी कहो या मशीन, खून का सचालन करने वाला यत्र ही तो है बस।

तो मार्क्स ने कहा था···

लिफाफा खोल तो लेना ही चाहिए। देखें तो सही···क्या ऐसे भी खत होते हैं जो किसीने किसीको न लिखें हों ?

सार्त्र कहता है···

जो नहीं है वह नहीं है···जो है है। तो···देखें ··सरकारी लिफाफे में बन्द 'नहीं' का स्वरूप कैसा होता है ?

अराजकतावादी कहते हैं···

मैं हू तो सिर्फ मैं हूं···मैं सोचता हूं और समझता हू···जो मेरे लिए वाजिब है मैं जानता हू···दूसरो के थोपे हुए विचार डेड लेटर आफिस मे बेदावेदार पडे खत हैं जिन्हें किसीने किसीको नही लिखा ··किसीने मुझे नहीं लिखा···किसीको मैंने नही लिखा···

डेड लेटर आफिस।

लिफाफा मैंने अपने धुधले चश्मे से दूर सरकाया, बस, इतना कि मेरी कमजोर नजर के दायरे से बाहर नहीं हुआ।

लिफाफे का रंग··पास को नकारती, दूर न देखने वाली आखो की निगाह की तरह बदरंग है। जहरीले नाग के दश का रंग भी यही होता है ···ठण्डा, चिकना और निन्दास-भरा; न लाल, न काला, न सफेद···ईश्वर की तरह रंगहीन। ईश्वर अगर रंगीन होता, पूरी दुनिया···इस लिफाफे का रंग अगर नीला होता···

मैंने लिफाफा चीर दिया।

ऐनक उतार ली।

अब मैं बिल्कुल साफ देख रही हूं···

बदरंग लिफाफे के भीतर से निकला खत मेरी आंखों के इतने करीब है···

यह खत मैंने लिखा है···लिखा था···एक साल पहले···

मैंने खत खोल लिया है।

पूरे पन्ने पर सिर्फ एक सतर लिखी है, टूटी-टूटी, दूर-दूर, बिखरी-बिखरी, दिल की धड़कन की तरह···

मैं···अब···उसे···कभी···नहीं···देखूंगी···

यह मैंने कब लिखा?

घबराकर मैंने ऐनक लगा ली।

अल्फाज धुंधले पड़कर गड्ड-मड्ड हो गए।

मैं उसे अब कभी नहीं देखूंगी!

खत को मैंने अपने से दूर करना शुरू किया। दूर ··और दूर···और-और दूर···मेरा हाथ एक-एक मिलिमीटर का फासला ऐसे तय कर रहा है जैसे जलजलों से वाकिफ दिल वधी रफ्तार पर धड़कने पर मजबूर हो। मैंने कहा न, हम लोग दिमाग के भरोसे जीते हैं।

खत के अल्फाज एक-एक करके साफ होते जा रहे हैं···

हां, ये मैंने लिखे थे···एक साल पहले···उस वक्त वह हंगरी में था। उसने कहा था, खत वह डाकखाने से उठा लेगा, उसका अपना पता क्या रहेगा, मालूम नहीं है। तभी न, मेरे खत के ऊपर लिखा है—आने तक इन्तजार करें।

अब भी लिखा है। हर लफ्ज साफ है···किसीकी निगाहों के गीलेपन को झेलकर ये फीके नहीं पड़े···हर लफ्ज चमक रहा है—सान पर चढ़े चाकू की धार की तरह।

डाकखाने ने मेरा इन्तजार मुझे लौटा दिया।

मजेदार जुमला है। नाटक में इस्तेमाल किया जा सकता है या कहानी में···कविता तक में चल सकता है।

कहूं जोर से—डाकखाने ने मेरा इन्तजार मुझे लौटा दिया!

कहकहों से कमरा गूंज उठेगा। निगाहें फिर भी सूनी रहेंगी···यहां लोग हंसते भी दिमाग से हैं। इनके बदन में नाड़ियां नहीं, नालियां हैं जिनमें मांस का धड़कता लोथड़ा नाहक खून बहाया करता है···दिमागी डकैतियों के फुटकर जुमले मैल की तरह ऊपर तैरते हैं। त्रिवेणी का यह कमरा बुद्धिजीवियों का अड्डा है। हर चेहरे पर दाढ़ी है या ऐनक···

पर मैं···ऐनक के भीतर देखने पर मजबूर हूं, जहां न नाटक है न कहानी, बस, वह है जो नहीं है और मैं···हूं? ऐनक के बाहर तो बस मेज है, कुर्सियां हैं, प्याले हैं, किताबें हैं दीवारें हैं, कुर्सियों पर पसरे चौबीस जिस्म हैं एक···दो···तीन···चौबीस। नहीं···पच्चीस···हां, एक जिस्म मेरा भी है।

है?

जिस्म है या पारदर्शी शीशा जो बाहर को प्रतिबिम्बित करके बाहर ही फेंक देता है। कुछ तो जरूर है क्योंकि आंखें हैं जो खत के अक्षर देख रही हैं, कान हैं जो खत के अल्फाज सुन रहे हैं···

अपना खत मैं बार-बार पढ़ रही हूं। पन्ने के ऊपर डली तारीख; पन्ने के नीचे लगी मुहर, लिफाफे की वापसी का वक्त, डेड लेटर आफिस का एक शब्द लम्बा ऐलान—अनक्लेम्ड (बेदावेदार)।

सब मिलकर एक छोटी-सी कहानी कह रहे हैं—तीन शब्द लम्बी वह नहीं है।

"आपका क्या ख्याल है, सार्त्र मार्क्स के विरुद्ध था या···" सामने वाले ने पूछा है।

वह···नहीं···है···

चौबीस चाय के प्यालों की गरमाई को बरकरार रखता छत का पंखा सुस्त चाल से घूम रहा। चू···चूं···चूं···हर शब्द कराह-कराहकर बाहर फूट रहा है—वह···नहीं···है···वह···नहीं···है···

पंखा घूम रहा है, बराबर घूम रहा है, दिल की धड़कन की तरह, सिसक-सिसककर···धीमे-धीमे—वह···नहीं···है···वह···नहीं···है···

मेरे सिर में घुमेर उठ रही है, रुक-रुककर, बाकायदगी के साथ···एक घुमेर पूरी होने पर दूसरी घुमेर। आंधी की तरह निरंकुश नहीं, सूरज की

बन्दिश में कैद जून की दोपहर की लू की तरह, जो रोज चलती है पर पथ-भ्रष्ट नहीं होती।

"आपके विचार में मोरालिटी का आधार क्या है?" सामने वाले ने पूछा है।

मो···रा···लि···टी—पंखे ने नई धुन पकड़ ली है—मो···रा···लि···टी···

जो···नहीं···है···नहीं···है···

मो···रा···लि···टी ऽ···

नहीं···है···नहीं···है ऽ···

चौबीस जिस्म कुर्सियां छोड़कर उठ खड़े हुए हैं और ताल से ताल मिलाकर नाच रहे हैं।

मो···रा···लि···टी ऽ

जो···नहीं···है···नहीं है ऽ

बदन थिरक रहे हैं···खोखले कहकहे गूंज रहे हैं···पंखा···तेजी से घूम रहा है···धुन फड़फड़ा रही है···आपे से बाहर हो रही है···

जो नहीं है···नहीं है ऽ।

जो नहीं है नहीं···है ऽ।

जो नहीं है···नहीं है ऽ।

कमाल की फुर्ती है, गजब की चुस्ती। बदन है या चाबी भरे खिलौने?

नहीं है! नहीं है! नहीं है!

कमरे के कोने में एक विशाल मैण्डोलिन बज उठा है। इलेक्ट्रिक मैण्डोलिन। इन्सानी छुअन से पाकीजा। बिजली की लहरों की बेमजा एकतान में बदलता···

नहीं है! नहीं है!

तेज! और तेज!

यह बीसवीं सदी है। इंसान चाद पर पहुंच चुका। वायरलेस के जरिये पाच सेकंड के अन्दर कोई किसीसे बात कर सकता है ··मेरा खत एक साल बाद लौटा है···

यह तो दिल की धड़कन है जो एकाएक रुक जाया करती है···दिमागी करिश्मे अटके हैं कभी ?

चौबीस सिगरेटों से निकला धुआं चौबीस इंसानों से बड़ा आकार ले चुका है। चौबीस जिस्म नाच रहे हैं या धुएं का एक राक्षस···

धुएं का राक्षस इंसानों से ज्यादा हमदर्द है। घटख नकाबों की तूफानी हरकतों पर धुन्ध बिछा रहा है···इलेक्ट्रिक मॅण्डोलिन की मशीनी धुन को निगल रहा है। धुन्ध में बिछलन पैदा करता एक चेहरा उभर रहा है···जहां-जहां फांक मिलती है, वहीं फैल जाता है। धुन्ध से बने चेहरों की यह फितरत है। छोटी से छोटी दरार में उनकी पहुंच है···ऐनक के भीतर घुस आने में वे माहिर हैं। नजर की कमजोरी से उनका कोई वास्ता नहीं है।

मैं ऐनक के भीतर देख रही हूं···

आप जानते हैं, सबसे बड़ा थ्रिल आदमी को क्या देखकर मिलता है ?

अपना अंत ! ऐनक के भीतर आंखों के सामने अपना अंत प्रत्यक्ष घटता देखिए एक बार···बाकी सब कुछ फीका लगेगा। भय और पुलक में अंतर क्या है ? रोमछिद्रों की सिहरन-भर हैं दोनों। पर···आह कैसी सिहरन !

कितनी बार मैंने देखा है···

डाकिये ने लाकर तार दिया है···लिखा है, "वह नहीं है ?"

मैं गश खाकर गिर पड़ी हूं और फिर···कभी होश की तरफ नहीं पलटी हूं।

आले पर रखा फोन बजा है···किसीने कहा है, "वह नहीं है।"

मैं चीख-चीखकर रो दी हूं, फिर चिल्ला-चिल्लाकर हंस पड़ी हूं और ···कभी प्रलाप के दायरे से बाहर नहीं निकली हूं।

सुबह-सुबह अखबार उठाया है। खबर है···युगोस्लाविया में हवाई जहाज गिरने से २१३ आदमी मरे···नामों की सूची में उसका नाम···वह नहीं है। मैं एक छलांग में छज्जे से नीचे कूद गयी हूं और···मेरी हड्डियों का शीराजा चिता पर चटखने से पहले सड़क पर बिखर गया है।

यह तो कभी नहीं देखा···

मैं त्रिवेणी में कुर्सी पर बैठी हूं। सामने गरम चाय का धुआं उड़ाता प्याला रखा है। बगल में किताबों का बंडल है। मेरे चारों तरफ दाढ़ी और चश्मे से ढके सूनी आंखों वाले चेहरे मशीनी जिस्मों को ठेलकर बीसवीं सदी की रफ्तार से नाच रहे हैं; सिगरेटों के धुएं को नोचता शोर गूंज रहा है—वह नहीं है ! वह नहीं है !

और मैं···होश में हूं ?

धुए के बीच बादल मंडरा रहा है···मुझे शोर के बीच उसका भीगा चेहरा फुसफुसा रहा है, "मैं नहीं तो तुम···मैं नहीं तो तुम···"

और मैं···अभी तक अंत का इन्तजार कर रही हूं ?

मोरालिटी क्या है ?

सार्त्र कहता है···

मार्क्स ने कहा था···

लेनिन नहीं, माओ···

नीत्शे का दर्शन-बोध···

जुमलों में धक्का-मुक्की हो रही है।

मैण्डोलिन की एकतान कान के पर्दे फाड़ रही है। नाचते जिस्मों की रफ्तार आंखों की पुतलियां फोड़ रही है।

मैं देख रही हूं···

एक-एक करके फर्श पर कूदते हुए आदमी को धुआं लील गया। बांहें फैलाए वह ऊपर उठा, धुएं का कतला बन कुछ देर मेरी ऐनक के सामने तैरा, फिर मुंह खोले विश्वरूपी आकाश के पेट में उतर गया। कमरा बिलकुल खाली हो गया।

मैं अपनी जगह बैठी हूं। खिड़की के बाहर जहां तक निगाह जाती है, धुए के कतले उठ रहे हैं···परवश बाहें फैलाए अन्तरिक्ष में डूब रहे हैं···मैं अपनी जगह पर बैठी हूं। चारों तरफ सुनसान है, सन्नाटा है। मैं न देख सकती हूं, न सुन सकती हूं। पूरी दुनिया में कहीं कोई आदमी नहीं है। बस मैं हूं। कुर्सी पर बैठी हूं। आंखों पर ऐनक है। मैं सोच रही हूं···

मोरालिटी क्या है ?

सार्त्र क्या कहता है ?

मार्क्स ने क्या कहा ?
लेनिन के बाद माओ क्यों ?
नीत्शे का दर्शन-बोध क्या है ?
मेरे स्वर में स्पंदन नहीं है, बस शब्द है और शैली है···
मैंने अपनी छाती पर हाथ रखकर देखा है···हां···मेरे दिल की धड़कन बन्द हो चुकी···

अलग-अलग कमरे

दरवाजा बन्द रहा। दीवार में बनी छोटी-सी खिड़की खुली और कम्पाउडर ने उसमें से बाहर झांककर रुखाई से आवाज लगायी, "क्या है ?"

"डाक्टर साहब को घर ले जाना है। लगता है, पिताजी पर फालिज पड़ा है," खिड़की के दूसरी तरफ खड़े आदमी ने हांफते-हांफते कहा।

"रात के पांच बजे हैं, मालूम है न ? फीस दुगनी लगेगी। दिन के बीस और रात के चालीस।"

"ठीक है, जो भी लगे। डाक्टर साहब को जल्दी बुला दीजिये।"

"मुझे क्या जरूरत है, देर करने की। चालीस रुपये जमा करवाओ और ले जाओ डाक्टर साहब को।"

"हां-हां, पर···" जेब टटोलकर बाहर खड़ा आदमी दुविधा में पड़ गया।

"जल्दी-जल्दी में पैसे लाने का खयाल ही नहीं रहा। घर पहुंचकर दे देंगे," उसने कहा।

"हां जी, दे देंगे घर पहुंचकर," कम्पाउंडर नाराज होकर बोला, "जेब में रुपये होते नहीं और चले आते हैं डाक्टर साहब को बुलाने। मालूम नहीं यहां का कायदा ? पहले रुपये जमा करवाओ तब दरवाजा खुलेगा। नाहक नींद बिगाड़कर रख दी हमारी।"

कहते-कहते वह खिड़की बन्द करने लगा पर उसने अपना हाथ बीच में रखकर अड़चन दे दी और सख्त स्वर में बोला, "जानते हो मैं कौन हूं ?

पाठक जी का लडका, श्याम। पाठक जी को फालिज पडा है, फालिज। जानते नही, वे बड़े डाक्टर साहब के कितने गहरे दोस्त हैं ? जाओ, जाकर डाक्टर साहब को बुला लाओ।"

उसकी फटकार का कम्पाउंडर पर जरा भी असर नही हुआ।

"यह ताव किसी और को दिखाना," वह मुह बिगाड़कर हसा, "बड़े डाक्टर साहब के दोस्त हैं तो होंगे। उनका तो तमाम बरेली शहर दोस्त है। तुम बडे डाक्टर साहब को बुलाने आये हो या छोटे डाक्टर साहब को ?"

"बडे डाक्टर साहब को अब क्या बुलाऊगा," बाहर खडे श्याम ने लम्बी सास खीचकर कहा, "वे बेचारे तो खुद फालिज मे पडे है। अब तो छोटे-बडे जो है, डाक्टर सुरेन्द्र देव ही है।"

"बस, फिर उन्हें, लेके जाना है तो चालीस रुपये लेकर आओ। तब बात करना," कह कम्पाउडर ने जबरदस्ती उसका हाथ हटाकर खिड़की धड़ाक से मारके बन्द कर दी।

"कम्पाउंडर ! कम्पाउडर !" तभी भीतर से जोरदार पुकार सुनाई दी।

"सत्यानाश ! अब ये बुढऊ जग बैठा है सो सारी रात वीरान समझो," बुड़बुड़ करता कम्पाउडर भीतर मुड़ गया।

श्याम रुपये लेने घर लौट गया। रात जब सहसा पिता फर्श पर गिरकर ढेर हो गये थे, तो वह जैसा था, वैसा का वैसा उठकर डाक्टर को बुलाने दौड़ गया था। जल्दी मे रुपये साथ लेने का खयाल ही नहीं आया था। वैसे चालीस रुपये उसके पास थे भी नही। उसकी अपनी नौकरी कोई है नही और पिता पिछले बरस रिटायर हो गये हैं। आजकल हाथ तग चल रहा है। फिर भी मां से कहने से शायद रुपयो का कुछ न कुछ जुगाड़ हो जाये।

कम्पाउडर अन्दर पहुंचा तो बिस्तर पर पडे बूढे डाक्टर नरेन्द्र देव ने पूछा, "कौन आया था ?"

"मरीज।"

"तो लौटा क्यो दिया ?"

"फीस लेने गया है।"

"फीस लेने? शर्म नहीं आती। फीस पहले लोगे, देखोगे बाद में?"

"मैं क्या करूं? डाक्टर साहब का हुक्म है।"

"हुक्म के बच्चे!" डाक्टर नरेन्द्र देव दहाड़ उठे।

उनकी देह पर फालिज जरूर पड़ा था, पर आवाज वैसी की वैसी करारी थी।

"वह पाठक जी का लड़का था या नहीं?" कड़ककर उन्होंने पूछा।

"जी।"

"तब? जानता नहीं वे हमारे जिगरी दोस्त हैं?"

"जी, पर मुझे तो हुक्म डाक्टर साहब का बजा लाना होता है," कुछ हिचककर कम्पाउंडर ने कह डाला।

"ठीक है, बुलाकर ला सुरेन्द्र को।"

"सोते से जगाऊंगा तो नाराज होंगे, साहब।"

"जाकर कह, मैं बुला रहा हूं," नरेन्द्र देव ने ऐसे स्वर में कहा जो हुक्म की फौरन तामील चाहता था।

कम्पाउंडर हिचकिचाया। पुराना आदमी था। उसे वे दिन याद थे जब बड़े डाक्टर साहब पर फालिज नहीं पड़ा था।

"जल्दी जा," नरेन्द्र देव फिर चिल्लाये।

कम्पाउंडर चल दिया पर साथ ही बुड़बुड़ाता भी गया, "'मैं बुला रहा हूं' तो ऐसे कह रहे हैं जैसे इनकी सुनते ही वे दौड़े चले आयेंगे।"

"क्या बात है बाबूजी, रात-भर आप सोते नहीं हैं क्या?" करीब आधे घण्टे बाद सुरेन्द्र देव ने डाक्टर नरेन्द्र देव के कमरे में घुसकर कहा।

"अरे सुरेन्द्र, सुना तुमने, पाठक को फालिज पड़ गया। श्याम बुलाने आया था और इस गधे के बच्चे ने उसे वापस लौटा दिया," कहते-कहते नरेन्द्र देव इतने विचलित हो उठे कि लगा रो देंगे।

पर सुरेन्द्र देव एकदम शान्त बना रहा।

"बुढ़ापे में फालिज होना आम बात है," उसने लापरवाही से कहा, "फीस लेकर आ जायेंगे तो चला जाऊंगा।"

वह कम्पाउडर से पूरी बात सुन चुका था।

"फीस! फीस!" नरेन्द्र देव जोर से चीखे और बदन को झटका दे-देकर बिस्तर से उठाने की कोशिश करने लगे। पर पूरा जोर लगाने के बावजूद सिर्फ बाया हाथ ऊपर उठाकर रह गये। कुछ जुम्बिश बायें पाव ने भी की पर बाकी का जिस्म वैसे ही लकड़ी के कुन्दे-सा बेजान पड़ा रहा। वे तड़फड़ाकर रह गये। और बदन को हिलाने के लिए जमा की पूरी ताकत का इस्तेमाल कर जोर से दहाड़ उठे, "जानता नहीं, पाठक मेरे जिगरी दोस्त हैं, उनसे फीस लेगा?"

"आपका तो पूरा बरेली शहर जिगरी दोस्त है। किस-किसका लिहाज करू?" सुरेन्द्र ने कहा।

सुनकर नरेन्द्र देव बेकाबू हो गये। बाया हाथ हिला-हिलाकर इतने जोर से चिल्लाये कि उनके मुह से झाग निकल पड़े, "नाशुके! नालायक! कसाई!"

"आप तो बाबू जी, नाहक परेशान होते हैं," उनकी हालत देखकर सुरेन्द्र ने कुछ नम्रता से कहा, "मैं अभी चला जाता हू। पर आप खुद डाक्टर हैं, जानते हैं, फालिज पडा है तो कुछ होना-हवाना नहीं है।"

"जानता हू," नरेन्द्र देव ने कहा और सहसा उनकी आवाज धीमी पड़कर टूट गयी। अपना कारगर बाया हाथ उठाकर उन्होंने धीरे से अपनी आखे पोछ डाली।

डाक्टर नरेन्द्र देव एक काबिल डाक्टर, नेक इसान और आदर्श पिता थे। अब उनकी उम्र साठ पार कर चुकी है। अपनी इस लम्बी जिन्दगी मे उन्होंने हमेशा अपने चरित्र के इन तीनों आयामो की मुश्किल मागो को पूरा करने की कोशिश की और काफी हद तक उसमें कामयाब भी रहे। यह तो कई बार हुआ कि एक माग को पूरी करने के लिए उन्होंने दूसरे को नकार दिया पर यह कभी नही हुआ कि तीनो की कुर्बानी देकर उन्होंने अपनी खुदगर्ज माग पूरी की।

डाक्टर नरेन्द्र देव को श्वेत रंग से बहुत लगाव था जो शायद उनके मन की शुचिता का सूचक था। रात हो चाहे दिन, वे हमेशा साफ-सफेद

लिबास पहने दिखलाई देते थे। चिट्टी खादी की पतलून और बन्द गले का कोट दिन में और चिट्टी ही खादी का कुर्ता-पाजामा रात में। उनकी कोठी की छतें और दीवारें तो सफेद पुराक थीं ही, यही झकझक उजलापन उसके भीतरी साजो-सामान में भी नजर आता था। खाने की मेज और बिस्तर पर बिछी चादरें सफेद, सोफे-कुर्सियों पर चढ़ा कपड़ा सफेद, बैठक में रखी संगमर्मर की गोलमेज सफेद, यहां तक कि दरवाजों और खिड़कियों पर लटके परदे भी सफेद। जो मोटर गाड़ी डाक्टर देव चलाते थे, वह भी सफेद रंग की थी। अपनी साठ साल की जिन्दगी में उन्होंने अनेक बार गाड़ी बदली थी पर उनके रंग में कोई तबदीली नहीं आयी थी। एक सफेद गाड़ी बेचकर वे दूसरी सफेद गाड़ी खरीदते रहे थे।

डाक्टर देव की कोठी के आगे काफी बड़ा बगीचा था, जिसमें मौसम का हर फूल खिला रहता था। वहां भी दो लम्बी क्यारियां बेला और मोगरा के श्वेत पुष्पों के लिए सुरक्षित रखी हुई थीं। इसके अलावा, और भी कई फूलों की सफेद किस्में चुन-चुनकर उन्होंने वहां लगवा दी थीं। श्वेत गुलाब, श्वेत कनेर, श्वेत लिली और श्वेत गुलदाउदी जैसे फूल अपनी दूधिया या कपूरी शुभ्रता से बाग के अनेक कोनों में अमावस्या की रात्रि को भी खिली चांदनी का निखार लाये रहते थे। फिर भी अपने इस हरे-भरे उद्यान में घूमते हुए वे कई बार कह उठते, "मेरा बस चले तो इन तमाम फूलों को सफेद कर दूं।" अगर विभिन्न रंगों के फूलों के पौधे उखड़वाकर उन्होंने सफेद फूल वहां लगवाने न दिये थे तो वह सिर्फ इसलिए कि वे एक आदर्श पिता थे और उनके बच्चों को सफेद के अलावा अन्य रंग के फूल भी पसन्द थे। बच्चों के कमरों की साज-सज्जा में भी वे दखल नहीं देते थे। वहां पहुंचते ही बरामदे से चला आ रहा धवल विस्तार छंट जाता और चटख रंगों का खिलवाड़ शुरू हो जाता।

किसी और आदमी में यह सफेद-परस्ती होती तो लोग फौरन उसे खब्ती की उपाधि दे देते। पर डाक्टर नरेन्द्र देव का व्यक्तित्व ऐसा था कि उनका यह शौक बिल्कुल सहज और तर्कसंगत मालूम पड़ता था। लगता था, उन जैसे इन्सान के लिए यही मुनासिब है कि वे सफेद रंग पहनें और पसन्द करें।

यही नहीं, इतनी ही आसानी से, गलती करार किये गये बगैर, वे और भी कई छोटे-मोटे खब्त होते जाते थे शायद इसलिए कि उनके खब्त कुछ इस तरह के होते थे जो सम्पर्क में आने वाले लोगों का फायदा करते थे। जैसे गरीबों का मुफ्त इलाज करने की उनकी सनक या अपने बच्चों की हर मांग पूरी करने की उनकी कोशिश।

डाक्टर नरेन्द्र देव एक गरीब पिता के इकलौते बेटे थे। बचपन से ही इतने मेधावी कि निर्धन पिता ने अपना सर्वस्व बलिदान करके भी उन्हें उच्च शिक्षा दिलवाने की ठान ली। जो चार बीघा जमीन उनके पास थी, उसे बेचकर उन्होंने पुत्र की शिक्षा का प्रबन्ध किया और शहर में रहकर चाकरी करके परिवार का पालन-पोषण करते रहे।

पुत्र नरेन्द्र देव ने भी उनके त्याग की शान रखी और अव्वल दर्जे में एम० बी० बी० एस० पास किया। डाक्टरी की डिगरी मिलने पर, हर्ष के अतिरेक में गरीबों की सहायता का जो संकल्प नरेन्द्र देव ने किया, आश्चर्य था कि सफल और व्यस्त डाक्टर बन जाने पर भी, उसे नहीं भूले। इसका कारण ठीक क्या था, कहा नहीं जा सकता, यह कि वे स्वयं अभाव में पले थे या यह कि जन्म से ही उनके चरित्र में संवेदना का दिव्य गुण आ मिला था या सिर्फ यह कि एक बार ठान लेने पर कोई भी चीज बिना किये छोड़ देना उनकी स्वाभिमानी प्रकृति में नहीं था।

जो भी हो, बरेली शहर में सभी जानते थे कि जब किसी मरीज का सम्बन्धी हकलाकर कहता है, "डाक्टर साहब, फीस के पैसे तो हैं नहीं," तो जेब से दस रुपये का नोट निकालकर थमाते हुए उसे जोर से फटकारते हैं, "अरे, खाली फीस देने से बीमारी ठीक हो जायेगी क्या ? लो, जाकर डिस्पेंसरी से दवा लो और खाने में दूध-फल के सिवा कुछ मत देना।"

डिस्पेंसरी उनकी अपनी थी, जो उनकी कोठी के बाहर वाले बरामदे में जाफरी लगाकर बनाई गई थी। बरामदे में सटे कमरे में बैठकर वे मरीज देखा करते थे और बाहर डिस्पेंसरी से कम्पाउंडर दवा बांटा करता था। वहां से मुफ्त दवा न दिलवाकर वे रोगियों को दस-पांच के नोट इसलिए थमाया करते थे, क्योंकि उनका कम्पाउंडर मुफ्तखोरों से सख्त नाराज रहता था और मौका मिलते ही दबे स्वर पर कड़े शब्दों में उनकी भर्त्सना

करने से नहीं चूकता था।

डाक्टर देव नहीं चाहते थे कि कोई भी मरीज उससे मुफ्त दवाई मांगकर उसकी नजरों में हीन बने। रुपये दे देने से बात डाक्टर देव और बीमार के तामीरदार तक रह जाती थी। एक बात जरूर थी, अगर सम्बन्धी रोगी की देखभाल में जरा भी भूल-चूक करते, मसलन, उनके दिये रुपयों से उसके लिए फल-दूध न लाकर अपने लिए चाय या दारू का इतजाम कर लेते तो डाक्टर देव के क्रोध का ओर-छोर न रहता। वे जितने सवेदनशील थे, उतने ही क्रोधी। तब उनकी जबान के चाबुक खाकर मोटी से मोटी खाल वाला आदमी भी कौल भर लेता कि उम्र-भर फिर कभी चाय या दारू को हाथ नहीं लगायेगा। अगर उसने रुपया दारू या चाय पर खर्च न करके दाल-रोटी पर किया होता तब भी कोई फर्क नहीं पड़ता। डाक्टर देव उसी बेरहमी से उसे फटकारते और वह वैसे ही तिलमिलाकर अपनेको धिक्कारता। ऐसा करते समय वे भूल जाते कि अभावग्रस्त केवल मरीज नहीं, उसका तीमारदार भी है और जरूरतमन्द के लिए उसकी अपनी जरूरत ही सबसे बड़ी होती है। उस वक्त उनकी हमदर्दी सिर्फ अपने मरीज के साथ होती क्योंकि उसके लिए वे अपनेको जिम्मेवार ठहराते। लड़कपन से उन्होंने अपनेको एक आदर्श डाक्टर के रूप में देखा था। और उस छवि को बनाये रखने के लिए वे सब कुछ बलिदान कर सकते थे।

सौभाग्य से आदर्श डाक्टर होने के साथ-साथ नरेन्द्र देव परिश्रमी और योग्य भी थे, जिससे फीस में मिले रुपयों का काफी अश निर्धन रोगियों में बांटकर भी उनके पास इतना धन बचा रहता था कि वे अपने परिवार की हर जायज और नाजायज मांग पूरी कर सकें। अच्छा ही था क्योंकि आदर्श डाक्टर के अलावा जो दूसरा भव्य रूप उन्होंने अपना रखा था, वह था एक आदर्श पिता का।

डाक्टर नरेन्द्र देव चाहते थे कि उनके बच्चों को ऐसे किसी अभाव का सामना न करना पड़े जो उन्हें स्वयं बचपन में झेलने पड़े थे। छात्र-जीवन में जो कमी उन्हें सबसे अधिक सालती रही थी, वह थी जगह की तंगी। मां-बाप के साथ एक कमरे के घर में रहते हुए उन्हें पढ़ने-लिखने के लिए

उसकी रखवाली में जुट गये। 'यह मेरा है, इसपर मेरा अधिकार है' का मंत्र उन्होंने इतनी अच्छी तरह ग्रहण किया कि 'यह उसका है, इसमें दूसरे की साझेदारी है' जैसी बातें उन्हें सर्वथा असंगत लगने लगीं।

बच्चों की इस दीक्षा का तीखा अनुभव डाक्टर नरेन्द्र देव को सबसे पहले तब हुआ, जब उनके बचपन के दोस्त मोहनलाल और उसकी पत्नी का सड़क-दुर्घटना में देहान्त हो गया और वे उनके सोलह वर्षीय लड़के वंशीधर को घर लिवा लाये।

"अब से यह भी हमारा बेटा है," घर आकर उन्होंने एलान किया, "सुरेन्द्र, जाओ इसे अपने कमरे में ले जाओ। और देखो, इसे कोई तकलीफ न हो।"

"क्यों, मेरे कमरे में क्यों?" चौदह वर्ष के सुरेन्द्र ने तपाक से कहा, "मेरे कमरे में जगह नहीं है।"

"तुमने शायद सुना नहीं। इसके मा-बाप का देहान्त हो गया है। इसे दोस्ती और हमदर्दी की जरूरत है। तुम साथ रहोगे तो इसका मन बहला रहेगा," सुरेन्द्र को समझाते हुए उनका स्वर व्यथा से भर गया।

"मेरी पढ़ाई में हर्ज होगा," सुरेन्द्र ने कहा, "आप उषा-आशा से कहिये न, वे दोनों एक कमरे में सो लें और एक कमरा इसे दे दें।"

"उससे क्या फायदा होगा? मैं नहीं चाहता, इस वक्त वंशीधर अकेला रहे," डाक्टर नरेन्द्र देव क्रुद्ध हो उठे।

"तब अपने कमरे में रख लीजिये," कह सुरेन्द्र जल्दी से वहां से हट गया। पुत्र के व्यवहार से कुण्ठित हो वे यही करने जा रहे थे कि गंगाबाई ने नयी आपत्ति उठा दी।

"दो-दो जवान लड़कियां हैं घर में," उन्होंने कहा, "पराये लड़के को यहां कैसे रखा जायेगा?"

"अरे यह मेरा बेटा है, उनका भाई हुआ। कैसी बातें करती हो तुम?" डाक्टर देव ने आश्चर्य के साथ कहा।

"तुमने बेटा कह दिया, इसीसे क्या उनका भाई हो गया?"

"पर वे अभी बच्चियां हैं। उम्र ही क्या है उनकी? साथ रहेंगी तो भाई ही मानेंगी।"

"उम्र में क्या कमी है?" गंगाबाई उस दौर की बात कर रही थीं जो पूरी तरह उनकी पकड़ में था, पति की विद्वत्ता का वहां दखल नहीं था, उषा तेरह की हो गयी और आशा ग्यारह की। "नहीं, यह नहीं होगा। घर पर वंशीधर नहीं रह सकता। तुम्हें उसे बेटा बनाना है तो बनाओ, पर घर से बाहर रखकर।"

हारकर डाक्टर देव ने वंशीधर को अलीगढ़ हास्टल में रख दिया और आगे चलकर वहीं मेडिकल कालेज में दाखिला दिलवा दिया। छुट्टियों में वह अवश्य घर आता था और तब डाक्टर साहब उसके लिए मेहमानों वाला कमरा बड़े चाव से सजवा रखते थे। पांच साल यों ही बीत गये। उसके बाद जब वंशीधर एम० बी० बी० एस० करके बरेली आया तो जो भय गंगाबाई ने पांच साल पहले व्यक्त किया था, सहसा साकार हो उठा। डाक्टर नरेन्द्र देव की बड़ी लड़की उषा ने छिपकर मंदिर में जाकर आर्य-समाजी रीति से वंशीधर से विवाह कर लिया; और यह भेद उनपर तब खोला जब वह मां बनने वाली हो गयी।

उसने अपने पिता को वकील से यह कहते सुन लिया था कि चूंकि वे वंशीधर को अपना दत्तक पुत्र मानते हैं, इसलिए जायदाद का एक चौथाई भाग उसे देंगे। भाई-बहन के मुकाबले अधिक सम्पत्ति पाने का इससे अच्छा उपाय उसे और कोई नहीं सूझा था।

सुनकर डाक्टर साहब अवसन्न रह गये। वे सचमुच वंशीधर को अपना बेटा और उषा-आशा का भाई मान बैठे थे। उनकी मनोभावना और उससे उत्पन्न व्यथा का कुछ आभास वंशीधर को अवश्य रहा होगा क्योंकि शादी के बाद उसने उन्हें अपना मुख नहीं दिखलाया। पत्नी को ले सुदूर बम्बई में जा बसा।

पहली की चोट को भुलाने के लिए डाक्टर देव ने दूसरी लड़की आशा के लिए वर खोजने में कोई कसर उठा न रखी। दौड़-धूपकर ऐसा लड़का पा लिया जो मेधावी और होनहार होने के साथ घर-बार से सम्पन्न भी था। पर विवाह के कुछ ही दिन बाद पुत्री पति को लेकर बरेली लौट आयी।

दुर्भाग्य से पति की सम्पन्नता सम्पत्ति तक सीमित नहीं थी, परिवार

के सदस्यों की संख्या भी भरपूर थी। आशा को ऐसी संपन्नता की आदत नहीं थी। कुछ ही दिनों में पारिवारिक आदान-प्रदान से तंग आकर उसने पति की ओर से मा-बाप, भाई-बहन से झगड़ा करके अपनी अलग राह बना ली।

उसके इस व्यवहार से डाक्टर नरेन्द्र देव और गंगाबाई से भी ज्यादा दुख शायद सुरेन्द्र देव को हुआ क्योंकि उसने उन्हें घर में जगह देने से कतई इंकार कर दिया। तब आशा पिता की सम्पत्ति में अपने हिस्से की मांग कर, वहीं बरेली में अलग कोठी बनाकर रहने लगी। काफी जमीन उसने खरीद ली और पति की वकालात छुड़वा, उसे भी उसके काम में जोत लिया जमीन का काम उसने किया तो खेती-बाड़ी जैसा अनिश्चित लाभ वाला नहीं।

धरती से उसे कोई लगाव नहीं था, मोह था उससे मिलने वाले पैसे से। शुरू-शुरू में वह जमीन और उसपर बनी पक्की इमारतें खरीदती-बेचती रही, फिर उससे मिला रुपया सूद के जरिये खुद-ब-खुद बढ़ने लगा। रुपये से रुपया खींचने और उसे गिनने में उसका होनहार पति इतना माहिर हो गया कि उसे याद भी नहीं रहा कि कभी वह सुप्रीम कोर्ट में जिरह करने के सपने देखा करता था।

अलग-अलग कमरों में पनपी अपने बच्चों की खुदगर्ज बढ़ोतरी से दुखी डाक्टर नरेन्द्र देव को एक बात का संतोष जरूर था और वह यह कि उनका लड़का सुरेन्द्र भी उनकी तरह एम० बी० बी० एस० हो गया था। यह सच है कि अपनी आकांक्षाओं को उन्होंने अपने बच्चों पर कभी नहीं लादा था, पर इसका यह मतलब नहीं था कि उनके अरमान ही मिट गये थे। उनके बाद, उनका लड़का उनका प्रतिष्ठित दवाखाना चलाये और उनके उसूलों को कायम रखे, इससे बढ़कर उनकी साध और क्या हो सकती थी। एम० बी० बी० एस० करने के बाद उन्होंने उसे एफ० आर० सी० एस० करने विलायत भेज दिया। इससे पहले ही उसने एक धनिक उद्योगपति की इकलौती लड़की से विवाह कर लिया था। डाक्टर नरेन्द्र देव से इस बारे में न उसने उनकी राय पूछी थी और न उन्होंने दी थी। वे उसके डाक्टर बन जाने के लिए ही इतने कृतज्ञ थे कि बहू के रूप में भी किसी डाक्टर को देखने की अपनी इच्छा को असंभव स्वप्न मानकर हटा देने में

उन्हें विशेष कठिनाई नहीं हुई थी। जितने दिन वह विलायत रहा, डाक्टर नरेन्द्र देव उसके लौटने पर होने वाली अपने दवाखाने की समृद्धि के सपने लेते रहे।

गंगाबाई का इस बीच देहान्त हो गया, इसलिए वे उसके लौट आने के सुख को न देख सकीं पर नरेन्द्र देव अब तक उसे भुगत रहे थे।

डाक्टर सुरेन्द्र देव ने तीन बरस पिता के साथ काम जरूर किया पर यह समझने में उसे देर न लगी कि वह चाहे कितनी ही डिग्रियां हासिल करके क्यों न आ गया हो, जब तक डाक्टर नरेन्द्र देव जिन्दा हैं, उसे कोई नहीं पूछेगा। दवाखाने में आने वाला हर मरीज बड़े डाक्टर साहब की गुहार मचाता आता और उन्हें ही दुआएं देता जाता। आखिर उसने यह बात डाक्टर नरेन्द्र देव से कह डाली और तब उन्होंने वह कर डाला जिससे उनके आदर्श पिता होने का दर्जा आदर्श डाक्टर होने से ऊपर उठ आया।

ऐसा नहीं था कि वह निर्णय लेने में उन्हें तकलीफ नहीं हुई या अपने से लड़ना नहीं पड़ा। एक लम्बी और दर्दनाक कशमकश के बाद ही वे उस नतीजे पर पहुंचे, जिसके तहत वे जानबूझकर रिटायर हो गये और बरेली का दवाखाना सुरेन्द्र देव को सौंप देहरादून-मंसूरी जा बसे।

गर्मियों में मंसूरी और सर्दियों में देहरादून। यह उनकी शोहरत का असर था कि कुछ मरीज वहां भी उन्हें आ घेरने लगे पर अपनी तरफ से वे रिटायर हो चुके थे और मरीजों को आमन्त्रित करना उन्होंने छोड़ दिया था। वे यही सोचकर खुश रहते थे कि उनके नाम और परिपाटी को उनका लड़का बरेली में जीवित रखे हुए है।

तभी साठ की आयु पर पहुंचते-पहुंचते उनके दायें अंग पर फालिज पड़ा और वे बरेली लौट आये। छह महीने से वे दवाखाने के बराबर वाले अपने कमरे में बिस्तर पर पड़े दवाखाने के उत्तराधिकारी को अपने अधिकारों की रक्षा करते देख रहे थे। बिस्तर पर बिछी सफेद चादरों पर अब उनके चेहरे पर जर्दी छाने लगी थी और उन्हें महसूस होने लगा था कि फालिज सिर्फ उनके शरीर पर नहीं, दवाखाने, कोठी और तमाम बरेली शहर पर पड़ गया है।

आज उनके सब्र की हद हो गयी थी। पाठक के लड़के के दवाखाने से

लौट जाने ने उन्हें यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि क्या इस हद तक पहुंचकर भी उनके पास सब्र के सिवा कोई चारा नहीं है ?

"क्या हुआ ? क्या हुआ ?" सुरेन्द्र देव की गाड़ी जैसे ही बाहर आकर रुकी, डाक्टर नरेन्द्र देव ने आवाजें देनी शुरू कर दीं।

"पाठक जी नहीं रहे," सुरेन्द्र ने अन्दर आकर कहा, "मेरे पहुंचने के कुछ ही देर पहले खतम हो गये।" फिर बुदबुद करके बोला, 'फीस के रुपये भी नहीं दिये कम्बख्तों ने।'

नरेन्द्र देव की आंखों से आंसू बह निकले।

"तुम अगर जल्दी पहुंच गये होते···" उन्होंने कहना शुरू किया तो··· सुरेन्द्र ने बीच में टोक दिया, "तभी क्या हो जाता ? उनके लिए तो अच्छा ही हुआ। छुटकारा मिल गया। घिसट-घिसटकर जी भी लेते तो क्या फायदा होता।"

नरेन्द्र देव देर तक उसकी तरफ देखते रहे। आंखों से आंसू कुछ देर और बहे, फिर अपने-आप सूख गये, हाथ बढ़ाकर उन्हें पोंछने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया।

"तुम ठीक कहते हो," आखिर चुप्पी तोड़कर उन्होंने धीरे से कहा और फिर दृढ़ स्वर में जोड़ा, "मैं वहां जाऊंगा।"

"कहां ?"

"पाठक के यहां।"

"आप ? आप वहां जाकर क्या करेंगे ?" सुरेन्द्र देव के स्वर का आश्चर्य हिकारत से सना पड़ा था।

"क्यों ? पाठक मेरे दोस्त थे। उनके बीवी-बच्चों को ढाढस बंधाऊंगा, जरूरत हुई तो कुछ मदद कर दूंगा।"

"और जायेंगे कैसे आप ?" सुरेन्द्र ने उसी स्वर में कहा।

"जैसे भी जाऊं," नरेन्द्र देव ने उसकी तरफ से नजरें हटाकर कपाउंडर से कहा, "जाकर हमारे ड्राइवर को बुला लाओ।"

"जाना चाहते हैं तो जाइए," सुरेन्द्र ने कहा, "आप खुद डाक्टर हैं, जानते हैं अगर इस बार बायीं तरफ फालिज का दौरा पड़ गया तो आप बचेंगे नहीं !"

"जानता हूं," नरेन्द्र देव ने इतना ही कहा।

दुबारा वे ड्राइवर के अन्दर आने पर बोले, "हमें पाठक जी के घर तक ले जा सकते हो?" उन्होंने उससे कहा।

ड्राइवर पुराना आदमी था : तीस साल से उनके यहां काम कर रहा था, डाक्टर नरेन्द्र देव के बीसों अहसान थे उसके ऊपर।

"गोद में ले चलूगा हुजूर," उसने कहा।

"उसकी जरूरत नहीं है। दवाखाने से ह्वील चेयर ले आओ।"

ड्राइवर पास के कमरे से ह्वील चेयर ले आया और गोद में उठाकर उन्हें उसपर बिठला दिया। लुज-पुज दाया अंग एक तरफ को फिका-सा पड़ा रहा, पर बायां पैर जोर लगाकर उन्होंने समेट लिया और बायां हाथ बढ़ाकर बोले, "मेरी चेकबुक।"

ड्राइवर ने तकिये के नीचे से निकालकर उनकी चेकबुक उन्हें पकड़ा दी। तभी उनकी निगाह अभी छोड़े अपने बिस्तर पर गयी।

"सुनो," उन्होंने कहा, "मेरे बिस्तर की चादर बदलवा देना।"

"अभी तीन दिन हुए तो बदली थी, फिर मैली हो गयी," सुरेन्द्र ने खीज-भरे स्वर में कहा।

"सफेद है न भैया," कुर्सी का हत्था पकड़े ड्राइवर ने मधुर स्वर में कहा, "जल्दी मैली हो जाए है, पर तुम तो जानो ही हो मालिक हमेशा उजले बिस्तर पर सोया करे हैं।"

कन्धे झटककर सुरेन्द्र देव कमरे से बाहर निकल गया।

ह्वील चेयर को गाड़ी में रखवा, डाक्टर नरेन्द्र देव पाठक के घर पहुंच गये। चेकबुक में पाठक की पत्नी के नाम दो हजार का चेक पहले ही लिख लिया। फालिज पड़ने के बाद अपने बैंक के मैनेजर को बुलवाकर उन्होंने बायें हाथ के हस्ताक्षर पक्के करवा लिये थे, चेकबुक भी हमेशा सिरहाने रखते थे। बीमारी में जब-तब रुपये की जरूरत पड़ती रहती थी।

उन्हें देखते ही पाठक की पत्नी धाड़ मार कर रो दी।

"अरे भैया, अगर तुम पहले आ जाते तो कौन जाने ये बच ही जाते," रोते-रोते वे बोली।

नरेन्द्र देव के मुंह से बोल नहीं निकला, आंखों से आसुओं की धार अवश्य बह चली। कुछ देर बाद अपने निस्पन्द शरीर पर लाचार नजर डालकर उन्होंने कहा, "भाभी, अब मैं किस लायक हूं ?"

"तुम्हारे हाथ में शफा है, सीने में दिल है, तुम मुर्दे को भी जिला सकते हो।"

नरेन्द्र देव गहरे सोच में डूब गये। उनकी दृष्टि शरीर के दायें भाग से हटकर बायें हाथ पर केन्द्रित हो गयी। देर तक वे अपना हाथ हिला-डुलाकर देखते रहे, फिर उसे जेब में डालकर दो हजार का चेक निकाला और भाभी की ओर बढ़ा दिया और फिर वही हाथ श्याम के सिर पर रख दिया।

उसी सोच में डूबे नरेन्द्र देव घर पहुंचे तो देखा, उनके बिस्तर पर हरे और काले रंग की चारखानों वाली चादर बिछी हुई है। व्हील चेयर पर बैठे डाक्टर देव और हत्था थामे ड्राइवर, दोनों भौचक देखते रह गये।

"इस बिस्तर पर रंगीन चादर किसने बिछायी," चकित स्वर में ड्राइवर बुदबुदाया और नरेन्द्र देव ने जोर से आवाज लगायी, "सुरेन्द्र! कम्पाउडर!"

सुरेन्द्र देव और कम्पाउडर भीतर घुसे तो ड्राइवर कुर्सी छोड़ आगे बढ गया।

"भैया, मालिक के बिस्तर पर रंगीन चादर जाने किसने बिछा दी," उसने मीठे स्वर में कहा। वह चाह रहा था, किसी तरह डाक्टर नरेन्द्र देव के कुछ कहने से पहले ही वह चादर बदलवा डालने में सफल हो जाये।

"मैंने," सुरेन्द्र ने कहा, "सफेद चादर रोज मैली होती है, रोज बदलनी पड़ती है। आखिर ऐसे कितनी चादरें रखी जायेंगी घर में।"

"ऐसा न कहो भैया," ड्राइवर ने हाथ जोड़कर कहना शुरू किया कि नरेन्द्र देव का दृढ़ स्वर सुनाई दिया, "ड्राइवर, यह कमरा बन्द कर दो। रात हमारे सोने से पहले बिस्तर पर सफेद चादर बिछा देना। तब तक हम दवाखाने में बैठेंगे।"

"दवाखाने में ?" अब चकित होने की सुरेन्द्र की बारी थी।

"हां, अब से हम दवाखाने में बैठा करेंगे," नरेन्द्र देव ने उसी अकम्पित

स्वर में कहा, "फालिज हमारे बदन पर पड़ा है, दिलो-दिमाग और नजर पर नहीं। और बायें हाथ से चेक लिख सकते हैं तो नुस्खा भी लिख लेंगे।"

फिर उन्होंने सीधा कम्पाउंडर की तरफ देखा और कहा, "जाओ, दवाखाने का दरवाजा खोल दो और हमारे बैठने का इतजाम करो।"

कम्पाउंडर उस दृष्टि को पहचानता था। वह चुपचाप दवाखाना ठीक करने चला गया। "यह आदमी नीच तो है पर हुक्म का तावेदार भी," जाते हुए कम्पाउडर की तरफ देखकर उन्होंने कहा, "हमारा काम चला देगा।"

बायें हाथ से धक्का देकर उन्होंने ह्वील चेयर को दवाखाने की तरफ मोड दिया और ड्राइवर से बोले, "तुम तो हमारे साथ होगे ही।"

ड्राइवर ने कुर्सी का हत्था पकड लिया और उसे आगे धकेलने लगा।

जाते-जाते नरेन्द्र देव ने हाथ उठाकर कहा, "और देखो सुरेन्द्र, तुम अपने लिए कोई दूसरा दवाखाना ढूढ लो।"

खाली

आधे ढुके दरवाजे को ठेलकर निर्मला अंदर गलियारे मे आ गयी और कुछ देर ठिठके रहने के बाद बैठक में पहुंच गयी। बाहर घंटी बजाने की उसने जरूरत महसूस नहीं की थी, सामने दरवाजा जो खुला दिख गया था। पर उसने सोचा था, दरवाजा खुलने की आहट पाते ही, कोई चौंककर आगे बढ़ आयेगा और पूछेगा, 'कौन ?' पर यहां तो वह बैठक तक पहुंच चुकी और कहीं कोई प्रतिक्रिया नही हुई। कमरे में चारों तरफ फैले बेतरतीब सामान पर नजर डालकर, उसने बेहद बेचैनी महसूस करते हुए सोचा—घर सामान से अटा पड़ा है और घरवाली नदारद; जैसे चोरों के लिए ही एक जगह इकट्ठा कर रखा गया हो। लगता है, इन लोगों के घर की चौकीदारी मुझे ही करनी होगी। सोचकर उसके मन में संतोष की लहर दौड़ गयी। कोई भी नयी जिम्मेदारी आ पड़े, तो वह ऐसा ही सुकून महसूस करती है, खासकर तब जब जिम्मेवारी किसी बाहरी आदमी से तारलुक रखती हो।

दो महीने से ऊपर का मकान खाली पड़ा है। और उसका समय भी। समय खाली और उससे ज्यादा खाली है उसकी जिज्ञासा। यों तो आसपास भी घर हैं। खाली नहीं, आबाद। बाहर बरामदे में बैठकर उनके भीतर के दृश्यों को आंका जा सकता है। पर वह बात नहीं आती। ठीक अपनी ऊपर वाली मंजिल का मजा ही और है। वहां पहुंचने के लिए हर आने-जाने वाले को उसके अहाते से होकर गुजरना पड़ता है। उनकी शक्लें तक वह पहचानने लगती है। घर के काम में हाथ चलाते-चलाते उसका खाली

दिमाग ऊपर ही भटकता रहता है।

यों तो हर आम घर की जिंदगी में भूकंप के हल्के-तेज झटके लगते रहते हैं, पर कोई-कोई घर ठीक ज्वालामुखी के गर्भ में पलता है। वहां कम-ज्यादा झटके लगकर नहीं रह जाते। आता है, तो पूरे वहशीपन से जलजला आता है। उसके आने के बहुत दिन पहले से माहौल तना रहता है। हल्की से हल्की आहट, धीमे से धीमा सुर सन्नास से सना रहता है।

सुनते हैं, पशु-पक्षियों को भूचाल के आगमन का पूर्वानुमान हो जाता है। निर्मला में भी उन्हीं-सी अन्त प्रज्ञा होगी। तभी न, जलजला आता ऊपर था और उसके आने से पहले नसें उसकी तन जाती थीं। कान चौकन्ने हो उठते थे, नाक की सूंघने की शक्ति तक बढ़ जाती थी। फिर जब जलजला वाकई आता, तो वह उसके लिए पूरी तरह से तैयार रहती। तब उसके हाथ भिगोने में करछुल या मैले कपड़ों पर डंडा जल्दी-जल्दी मारने लगते, जिससे काम चटपट निबटाकर वह कढ़ाई-बुनाई लेकर बरामदे में जा बैठे। देखती रहे कि ऊपरवाला कब बाहर निकलता है। उसके बाहर जाते ही उसकी बीवी के पास जा पहुंचे। उसका दुखड़ा सुने, उसे तसल्ली और नसीहत दे। वह पहले वाला किरायेदार तो अपनी बीवी को मार तक बैठता था। याद करके उसका बदन एक तीव्र रोमांच से झनझना उठा।

दो महीने से ऊपर का मकान खाली पड़ा है और उसका समय भी। समय से ज्यादा उसका कौतूहल। पति और तीनों लड़के सुबह दफ्तर-कालेज में चले जाते हैं, तो सारा दिन वह घर में अकेली रह जाती है। खाली समय काटने को दौड़ता है। शाम को वे लौटते हैं, तो अपने-अपने अनुभव लेकर और अपने-अपने सवाद।

खाने के लिए पुकारने पर सब आकर मेज पर इकट्ठे हो जाते हैं। कभी-कभी बिना बुलाये भी आकर पूछ लेते हैं, "क्या बना है खाने को?" मेज पर खूब रौनक रहती है। कभी-कभी तो चारों उत्तेजित होकर एक-साथ ही बोलने लगते हैं। खासकर तब, जब बहस राजनीति पर उतर आती है। बीच बीच में वह भी कुछ बोल जाती है। वे उसे चुप रहने को नहीं कहते। उसकी बात भी नहीं काटते। बस, जब वह कह चुकती है, तो फिर अपनी बातों में डूब जाते हैं। तब सहसा, वह सोच उठती है, उसके घर में

न झटके लगते हैं, न जलजला आता है, बस, सूनी-सपाट मैदानी सड़क पर वह स्थिर गति से रेंगती रहती है। तब ज्वालामुखी वाले घरों से उसे ईर्ष्या-सी हो जाती है। पर फिर खाना खतम करते-करते वे उसकी बनायी किसी खास चीज की तारीफ कर देते हैं और वह खुश होकर बर्तन समेटने लगती है। फिर भी ''मन अकुलाया-सा रहता है। ऊपर कोई रहता होता तो कितना अच्छा था।

आज सुना, नये किरायेदार आ रहे हैं, तो मन कैसा ताजा-ताजा हो आया। ट्रक आकर सामान छोड़ गया, तभी से इंतजार करने लगी कि घर वाले आयें और वह ऊपर जाये। कुछ देर बाद औरत अकेली आयी, तो और अच्छा लगा। जरा जमकर बातें हो सकेंगी।

वह एक कदम आगे बढ़ आयी और बैठक से सटी रसोई में झांककर देखने लगी, कहीं आते ही वहीं तो नहीं लग गयी, बेचारी! तभी उसने देखा, बैठक में ही, रसोई घर की तरफ के कोने में, उसकी तरफ पीठ किये उसकी उपस्थिति से बिलकुल बेखबर, एक औरत जाने किस काम में मशगूल खड़ी है।

"नमस्ते।" उसने गला खंखारकर कहा।

औरत उसकी तरफ घूम आयी। अब उसने देखा, उसके हाथ में चंद हरे पत्ते और कुछ सूखी डालियां हैं, जिनपर रुपहला रंगलेप हुआ है। कोने में पड़े स्टूल पर पत्थर का चौड़ा फूलदान रखा है। उसमें भी कुछ वैसी ही डालियां खड़ी हैं, जैसी उसके हाथ में हैं।

"नमस्ते।" उसने मुस्कराकर मधुर स्वर में कहा, "आप निचली मंजिल पर रहती होंगी और यह देखने चली आयी होंगी कि मुझे किसी चीज की जरूरत तो नहीं।"

उसके स्वर के हास्य से वह क्षण-भर को अप्रतिभ हो गयी, फिर संभलकर ऊंची आवाज में बोली, "हां, आपको बाहर का दरवाजा खुला नहीं छोड़ना चाहिए। यह एरिया बहुत खराब है। दिन-दहाड़े चोरी हो जाती है।"

"मैं जहां पहले रहती थी, वह एरिया भी बहुत खराब था। दिन-दहाड़े कितनी ही बार चोरी हुई।" उसने कहा।

"फिर भी आप दरवाजा खुला छोड़ देती हैं ?" उलाहना देते हुए उसका स्वर आवेश से कांप आया।

"हां, वे लोग कभी कोई काम की चीज लेकर ही नहीं गये।" उसने हंसकर कहा, फिर बोली, "बैठिए न, मैं जरा इन्हें लगा लूं। बस, दो मिनट।"

निर्मला ने कमरे में फैले सामान के बीच फर्नीचर के बड़े पैकिंग को ढूंढते हुए पूछा

"आपने अभी सामान खोला नहीं ? सोफा वगैरह सब बंद ही हैं।"

"अरे हां," झट से आकर उसने एक पैकिंग केस का ढक्कन उठा लिया और बोली, "न बंद है, न खुला।"

"मतलब ?"

"मतलब है ही नहीं।"

वह हंस दी और पैकिंग केस में से एक मचिया बाहर निकालकर बोली, "इसपर बैठिए।" और फिर वापस अपने कोने में चली गयी।

"फिर इन सब डिब्बों में है क्या ?" निर्मला पूछे बगैर न रह सकी।

"किताबें।"

"किताबें ? सबमें ?"

"हां, बहुत काम की होती हैं," उसने बड़ी संजीदगी से कहा, "जब पैसों की जरूरत हो, रद्दी में बेच लो।"

निर्मला चुपचाप मचिया पर बैठ गयी।

वह अपने काम में लगी रही।

"पर आप कर क्या रही हैं ?" दो मिनट की चुप्पी से ही निर्मला ऊब गयी।

"फूल सजा रही हूं।" उसने कहा।

"फूल ? पर फूल हैं कहां ?"

"जब मैं सजा चुकूंगी, तो दिखने लगेंगे।" कहकर वह स्वयं अपने पर हंस दी, पर उसकी तरफ घूमकर देखा नहीं।

"पहले सामान खोल लेतीं, तो ठीक रहता न," उसकी एकाग्रता से परेशान होकर निर्मला ने कहा, "फूल तो बाद में भी सजाये जा सकते हैं।"

"बस, यही तो आदमी की सबसे बड़ी कमजोरी है," उसने वहीं से जवाब दिया, "दिलचस्प काम पहले करता है, उबाऊ बाद में।"

"काम तो काम है।" निर्मला ने सिर झटककर बड़ी गरिमा के साथ कहा।

"और आदमी आदमी।"

"आदमी…"

"औरत भी।" हंसती हुई वह उसके पास आकर पैकिंग-केस पर ही बैठ गयी और फूलदान की तरफ इशारा करके बोली, "अब देखकर बतलाइए, ऐसा नहीं लगता, ठंडी सड़क के दोनों तरफ छायादार पेड़ उग रहे हैं?"

निर्मला को लगा, यह औरत जान-बूझकर उसका मखौल उड़ा रही है। बदला लेने के लिए उसने फूलदान में सजी डालियों पर एक सरसरी निगाह डाली और सख्ती से बोली, "नहीं।"

"आप बिलकुल ठीक कह रही हैं।" वह खिलखिलाकर हंस पड़ी, "खास लग तो मुझे भी नहीं रहा, पर कोशिश करने पर लगने लगेगा।"

निर्मला ने फिर एक बार फूलदान में सजी आकृति देखी। इस बार ध्यान से और देर तक। बीच में हरे पत्तों का समूह और दोनों तरफ ऊपर आसमान तक उठती-सी, बल खाती, लंबी रुपहली डालियां। सचमुच इस बार उसे वह आकृति भली लगी। एक शांति-सी अनुभव की उसने। मन हुआ, कुछ देर चुपचाप बैठकर उधर ही देखती रहे।

"कुछ पियेंगी, चाय-कॉफी?" उसने सुना, वह पूछ रही है।

"नहीं-नहीं," वह चुस्ती से उठ खड़ी हुई, "यही कहने तो आयी थी। लाइए आपका सामान खुलवा दूं। फिर नीचे चलकर हमारे साथ खाना खाइये। रात को भी। अभी तो रसोई जमाने में आपको काफी समय लग जायेगा।"

"नहीं, उसकी कोई जरूरत नहीं है," उसने मधुर, पर दृढ़ स्वर में कहा, "डबलरोटी-मक्खन साथ लायी हूं। दिन में वही खाऊंगी और सामान खोलूंगी। आपके यहां खा लिया, तो लंबी तानकर सो रहूंगी और यह सब

ऐसे ही पड़ा रहेगा। और जहां तक रात के खाने का सवाल है, वह तो दिनेश के आने पर ही तय होगा।"

"कितने बजे तक आ जाते हैं आपके पति ?"

"कोई ठिकाना है ? जब घर की याद आ जाये।"

ओह, तो उस तरह का है इसका पति, उसने सोचा और फिर एक संतोष की लहर उसके मन मे दौड़ गयी। तब तो इसकी शामें भी अकेले गुजरा करेंगी। चाय-कॉफी का साथ हो जायेगा।

"और बच्चे ?" उसने पूछा।

"बच्चा तो कोई है नहीं।"

"कोई नही !" मारे कौतूहल के वह आगे को झुक गयी, दम साधकर पूछा, "शादी को कितने साल हो गए ?"

"पांच।"

"पांच, और बच्चा नही हुआ ?" आखिरी शब्द पर आते-आते उसका स्वर टूट गया, पर साथ ही आंखो मे चमक भी आ गयी।

उसके हृदय में दया का ऐसा तूफान उमड आया कि वह विश्वास कर उठी, उसे वाकई इस औरत से महज सहानुभूति है, उसके माध्यम से किसी दिलचस्प स्थिति तक पहुंच पाने की खुशी नहीं। यह और बात थी कि अनजाने ही मन मे विचार कौंध गया कि ये लोग तो पहलेवाले किरायेदारो से भी ज्यादा दिलचस्प रहेंगे। उस औरत के तो बच्चा था, फिर भी···

"क्या-क्या इलाज करवाया ?" पूछते हुए मारे उत्तेजना के उसका स्वर फुसफुसाहट में डूब गया।

उसकी लंबी-पतली तराशी हुई भवें माथे पर ऊपर चढ़ गयी और होठो पर तीखी मुस्कराहट खेल गयी, "इलाज ? किस चीज का इलाज ?" उसने पूछा।

उसे उसकी प्रतिक्रिया कुछ अप्रत्याशित अवश्य लगी, पर कुछ सोचने से पहले ही वह कह गयी, "बच्चे के लिए। मेरी एक भाभी के तो शादी के आठ साल बाद जाकर भी बच्चा हो गया। डाक्टर साहनी ने आपरेशन···" वह पूरी जानकारी देने वाली थी कि बीच ही मे वह ठठाकर हंस पड़ी, "अच्छा !" उसने कहा, "पर मैं तो बच्चा चाहती नही।"

"चाहतीं नहीं ! क्यों ?"

"मतलब, अभी नहीं चाहती। हम दोनों अपने-अपने काम में इतने मशगूल रहते हैं कि उसे पालेगा कौन ?"

"दफ्तर में काम करती हो ?" निर्मला ने पूछा।

"हां।"

"आज छुट्टी ली होगी ?"

"हां।"

"सामान जमाने के लिए ? हां, कुछ भी कहो, घर का काम तो औरत के ही जिम्मे आता है।" उसके स्वर से फिर सहानुभूति उभर आयी।

"सच बतलाऊं ? छुट्टी तो दरअसल मैंने फूल सजाने के लिए ली थी। बहुत दिनों से किसी नये माहौल में कुछ नयी चीज बनाने को मन था। पर अब सोच रही हूं, *लगे हाथों सामान भी खोल लूं।*"

"ठीक है, तब दिन में वही कीजिए, पर रात के खाने की परेशानी में मत पड़िए, हमारे साथ ही खाइए।"

ये नहीं तो इसका पति तो मेरा बनाया खाना खाकर जरूर खुश होगा। ये तो वह सब बनाना क्या ही जानती होगी ? उसने अपने पर गर्व अनुभव करते हुए सोचा।

"नहीं, रहने दीजिये न। कौन जाने दिनेश कितने बजे आयें।" उसने आपत्ति की।

"तो बनाकर यहीं भिजवा दूं ?" उसने उदारता से कहा।

"नहीं-नहीं !" उसने डरे स्वर में कहा, "कहीं दिनेश यह समझ बैठे कि मैंने बनाया है, तो गजब हो जायेगा।"

"क्यों ?"

"फिर रोज-रोज मांगने लगे तो ?"

"तो क्या ?"

"मुझे आप जैसा बनाना कहां आयेगा।"

"मैं सिखला दूंगी।" उसने खुश होकर कहा।

"उतना वक्त ही कहां है मेरे पास।" कहकर उसने लंबी सांस खींची, पर चेहरे को देखने से ऐसा नहीं लगा कि उसे कोई दुख है।

"तो मैं ही बना कर भेज दूंगी, दूसरे-तीसरे दिन। पहले वालों के यहाँ भी मैं तीसरे-चौथे दिन कुछ न कुछ नाश्ता बनाकर,भेज दिया करती थी। उसका पति कितनी तारीफ करता था। जब मिलता था, यही कहता था, कुछ मेरी बीवी को भी सिखला दीजिए न। बड़ा भला आदमी था बेचारा।"

"बेचारा।" उसने हामी भरी।

"हां, बीवी के पास वक्त ही कहां था!"

"बेचारी।" उसने फिर कहा और मुस्कराहट दबाकर बोली, "अब कहां हैं?"

"बंबई।"

"आपको बड़ी याद आती होगी बेचारों को।"

"मुझे भी बहुत आती है।"

"बेचारे।" उसने फिर कहा, तो निर्मला को अच्छा नहीं लगा। उनकी बात छोड़कर बोली, "तो रात को भेज दूंगी खाना।"

"नहीं-नहीं, बिलकुल नहीं। मैं हाथ जोड़ती हूं ऐसा मत कर डालिएगा।" उसने इतने व्याकुल स्वर में कहा कि वह कुछ घबरा गयी।

"क्यों, क्या बात है?"

"ऐसा करेंगी, तो सारा मजा ही किरकिरा हो जायेगा। मैंने तो तय कर रखा है कि आज रात का खाना दिनेश बनायेंगे। मकान शिफ्ट करने में जरा मदद नहीं की बच्चू ने।"

निर्मला जैसे आसमान से गिरी। चकित स्वर में बोली, "खाना... भी...बनाना...जानते हैं आपके पति?"

"जानते-वानते तो खैर क्या हैं। शायद अंत में सब फेंक-फांककर डबलरोटी का ही सहारा लेना पड़े। पर जरा मजा रहेगा।" और खन-खन कर देर तक उसकी हंसी बजती चली गयी।

इस चोट के काफी देर बाद तक निर्मला स्तब्ध-चुप बैठी रही। फिर किसी तरह अपनेको समेटकर बोली, "पर आप तो कह रही थीं, वे बहुत देर से लौटेंगे, फिर कब बनेगा खाना?"

"हां रे, अच्छा याद दिलाया आपने। लगता है, आज रतजगा करना

होगा। यह देर से आनेवाला मर्ज भी तो जल्दी छूटता नहीं दिखता।" उसने फिर एक लंबी सांस भरी।

उससे आश्वस्त होकर निर्मला ने एक बार फिर उसकी जिंदगी में शामिल होने की कोशिश की। इस बार नसीहत देकर। "आपके पति इतनी देर से लौटते हैं, तब तो और भी जरूरी है आपके लिए, बच्चा। आपकी शामें उसके सहारे कट जाया करेंगी।"

"पर उसका दिन किसके सहारे कटेगा ?"

"मेरे पास छोड़ जाया करना।" उसने फौरन कहा, "पहले वाली भी जब नौकरी करने जाती थी, तो बच्चे को मेरे पास छोड़ देती थी। बड़ा हिल गया था मुझसे।"

"बेचारा।"

उसने दोहराया तो निर्मला कुछ नाराज होकर बोली, "कहो तो अच्छी बढ़िया आया का इतजाम कर दूं। बड़ी तजुर्बेकार औरत है।" कहते-कहते वह दोनों बांहे फैलाकर मचिया पर आगे झुक गयी। किसी उलझे हुए मसले को सुलझाकर रख देने के आश्वस्त दर्प से सब नाराजगी भूलकर, उसका चेहरा चिकना हो आया। लबालब भरी सुराही से उड़ेले गये पानी की तरह उसका तरल स्वर अबाध बह चला।

"अपनी भाभी को भी मैंने ही ढूंढकर दी थी। अब तक गुण गाती है मेरे। और फिर यहा तो मैं भी निगाह रखूगी उसपर। तुम कहो तो···"

"जी नही, शुक्रिया," उसने बात बीच में काट दी, "जब पैदा करूंगी तो पालूगी भी खुद ही। पालने को मन है, इसलिए पैदा करूगी न। न हुआ तो दफ्तर छोड-छाड़कर अलग करूगी।"

निर्मला का चेहरा एकदम बुझ गया। मुंह से निकल रहे शब्द सिर्फ टूटे नही, होंठों के बीच सूख गये। गुमसुम-सी वह उसकी तरफ ताकती रह गयी, जैसे भरी सुराही ठोकर खाकर लुढ़क गयी हो और खाली नि शब्द औंधी पड़ी हो। उसके सूखे मुह को देखकर उसका सख्त पड़ आया चेहरा नर्म हो उठा। हल्के से हंसकर उसने मधुर स्वर में कहा, "चाय तो पीकर ही जाइयेगा।" वह उठी और जिस पैकिंगकेस पर बैठी थी, उसे खोल डाला। भीतर से बिजली का छोटा-सा हीटर, अल्यूमीनियम का भगौना, दो प्याले

और चाय का सामान निकाला और रसोई की तरफ बढ़ गयी।

"बिजली का पाइंट मिल गया।" वहीं से चिल्लाकर उसने कहा, "बस, पाव मिनट में चाय तैयार समझिये। जाइएगा नहीं। डबलरोटी भी ला रही हूं साथ में।"

जाने की उसमें हिम्मत भी नहीं थी। उसे रोना आ रहा था। इससे तो ऊपर वाला मकान खाली ही पड़ा रहता तो अच्छा था। सच, औरत को औरत जात से इस तरह विश्वासघात नहीं करना चाहिए!

अंधकूप में चिराग

मैं साफ देख रही हूं'''धीरे-धीरे अपनी आवाज पर से मेरा इख्तियार मिट रहा है। हर इंसान के मुंह में एक जुबान होती है। काट दो तो आदमी गूंगा हो जाये। पर महज उसके रहते इंसान बोल नहीं पाता। जुबान को भी साथी चाहिए। होठ, दांत, तालू या मूर्धा। जुबान इन्हें छूती है और आवाज बन जाती है। कभी-कभी नहीं भी छूती। मुंह के अंदर अधर में लटकी रहती है और'''कितनी कोशिश होती है इंतजार की उस अनदीखती छोटी-सी घड़ी में'''आवाज कंठ से फूट पड़ती है। पर'''

यह बात जीव-विज्ञान की है। जुबान होती है, कंठ होता है और आवाज होती है। पर इंसान। जीव-विज्ञान से परे भी कुछ है'''धरती की तरह। साफ पानी गहरे खोदने पर निकलता है।

जुबान की पहुंच हद से हद कंठ की तलहटी तक है। हर तलहटी में गहरे छिपे कुएं होते हैं। आंतों को चीरकर आवाज निकले तो कंठ के तंग छिद्र को फोड़कर बाहर नहीं आ पाती। अंदर ही अंदर चक्राकार घूमती हुई भंवर बन जाती है, अपने ही जाल में फंसकर गहरे, और गहरे डूब जाती है।

मेरी जुबान सुरक्षित है। यूं मेरे शरीर का हर अवयव सुरक्षित है। मुंह में मूर्धा, तालू, दंत और ओष्ठ, सब हैं। फिर भी अपनी आवाज पर से मेरा अधिकार उठता जा रहा है।

पहले भी मेरी बात किसीकी समझ में नहीं आती थी। पर सुनने से वे इनकार नहीं करते थे। कर नहीं पाते थे। साफ और तेज आवाज सुननी

ही पड़ती है। लोग मेरी बात सुनते थे और उसके गलत अर्थ लगाकर ताली बजा देते थे। मैं चाहती तो समाजसेवी बन सकती थी। नेताओं का जन्म ऐसे ही होता है। समाज को ऐसे आदमियों की हरदम जरूरत है, जिनकी आवाज साफ और तेज हो, आसानी से कानों में पड़े और अर्थों के झमेले से दूर रहे। ऊंची और स्पष्ट आवाज शब्दों तक की मोहताज नहीं होती, अर्थों की तो बात ही क्या है। समाज के लिए अर्थ का मतलब दूसरा होता है। शब्दों के अर्थ ढूंढने के लिए लोगों के पास वक्त नहीं है। अर्थ-प्राप्ति शब्दों से नहीं होती।

मैं तुम्हारा नेता हूं, मेरे पीछे आओ, ऊंची तेज आवाज में यह सुनने पर समाज 'क्यों' नहीं पूछता। चुपचाप पीछे चल देता है। नहीं, चुपचाप नहीं, हर आदमी अपने पीछे चलने वाले को आदेश देता चलता है। वही हुक्म, मेरे पीछे आओ, जिसके जवाब में वे 'क्यों' नहीं पूछते।

मैंने अपने पीछे मुड़कर उस लम्बी लाइन को देखा, जहां हर आदमी के आगे एक आदमी है और एक पीछे, तो मैं डर गयी। साथ-साथ वे क्यों नहीं चल रहे। सब न सही, कुछ लोग तो साथ-साथ चलें, कदम से कदम मिलाकर। नहीं, हाथ में हाथ डालकर।

यह मेरी गलती थी। सब न सही कुछ लोग···यह मैंने क्यों कहा ? या सब या कोई नहीं, कहने की हिम्मत मेरी क्यों नहीं हुई ? कुछ और सब-का फर्क करते ही एक आदमी आगे हो जाता है, एक पीछे और सबसे पीछे वाले आदमी तक पहुंचने के लिए बहुत ऊंची आवाज चाहिए।

मैंने कहा न, आवाज की बुलंदी हद से बढ़ जाये तो शब्द बेमानी हो जाते हैं, अर्थों की तो बात ही क्या है।

अपनी आवाज की बढ़ती हुई बुलंदी से मैं खुश न रह सकी। मेरे मन में मोह जग उठा कि मेरी बात का अर्थ भी समझा जाये। कब और कैसे यह मोह मेरे मन में जगा मुझे ठीक से याद नहीं। शायद यह दस बरस पहले हुआ था या शायद अभी कल की बात है। या शायद···मैंने सिर्फ चाहा कि ऐसा हो···वाकई हुआ होता तो अपनी आवाज पर मेरा इख्तियार इस तरह धीरे-धीरे खो क्यों जाता···

हुआ यह कि पंक्तिवार चल रहे छोटे-बड़े आदमियों की भीड़ के पिछले

हिस्सों से निकलकर एक आदमी आगे बढ़ आया था, शायद हवा में तिरती एक निशब्द कराह मुझ तक पहुंची और मैं ही पीछे मुड़ गयी…

हुआ यह कि वह मेरे बराबर आ खड़ा हुआ, मैं उसके बराबर जा खड़ी हुई, हमारे कदम एक साथ उठे, कुछ दूर चले और ठिठक गये। मैंने कुछ कहा…मेरी आवाज एकदम धीमी थी। लगा, कंठ के बहुत नीचे आंतों के गहरे गर्त में सिसकती आवाज का भंवर सहसा जोर से मुड़क उठा है, अपने ही वेग के सहारे ऊपर चढ़ गया है और कोई एक बुलबुला कंठ के छिद्र को भेदकर बाहर उछल आया है। छोटा-सा बुलबुला है। क्षण-भर को कांपा है और फूट गया है। धमाका नहीं हुआ, शोर की लपटें नहीं उठीं, लाल-पीली-नीली प्रतिध्वनि की चिनगारियां नहीं उड़ीं। माहौल बेआवाज और बेअसर रहा, पर…मेरे भीतर लोभ पनप उठा कि मेरी बात का मतलब भी कोई समझे।

शायद उसने बुलबुले से फूटी सिसकी सुन ली थी…वह सिसकी जिस-में शोर नहीं था, शब्द नहीं था क्योंकि उसका अर्थ बिल्कुल साफ था…वह खुद अपना अर्थ थी। शायद यह दस बरस पहले हुआ था और मैं पूरे दस बरस तक सिर्फ एक बुलबुले के सहारे अपनी आवाज पर अधिकार बनाये रही। शायद यह अभी कल हुआ था और वह बुलबुला आज तक के लिए भी मुझे सहारा देने में नाकाम रहा। गलती मेरी थी।

मैं इस बात से संतुष्ट नहीं रह सकी कि मेरी बात खुद मेरी समझ में तो आती है। मेरे भीतर लोभ पैदा हो गया। मैंने समाज के नियम और सिल-सिले में बाधा डाली। एक आदमी को अलग कर लेना चाहा सिर्फ इसलिए कि वह मेरी बात महज सुने नहीं, समझ भी जाये…मेरी तरह…मुझसे भी ज्यादा…मेरी बात मुझे ही समझा पाने लायक।

इतना बड़ा लालच।

मैं उसे साथ लेकर अपने कमरे में चली आयी। वहां और कोई नहीं था।

मैंने कमरे की खिड़कियां और दरवाजे बंद कर लिये।

मैंने महसूस किया, पवित्रवार चल रहे समाज के प्राणी कमरे के चारों तरफ घेरा डालकर खड़े हो गये हैं। मुझे तभी समझ जाना चाहिए था;

बिला वजह वे अपनी कतार तोड़ा नही करते। यह घेराव उसके लिए है।

मैंने उनकी तरफ देखा तक नहीं। इससे पहले कि वे कुछ कहते मैंने दरवाजों को दीवार बना दिया।

उनकी आवाज की बुलदियों से मैं वाकिफ थी। मुझे समझ जाना चाहिए था कि बद खिड़कियां और बद दरवाजे उसे भीतर आने से रोक नही सकते। मेरा विश्वास खिडकियों और दरवाजो पर था भी नही। मेरा खयाल था···अभी तो न जाने कितने बुलबुले उठकर फूटेंगे। मेरी आवाज धीमी होती जायेगी। वह उसका अर्थ हथेली में सजोता रहेगा। उसकी अजुली की आड़ उनके शोरगुल को हम तक आने से रोक देगी।

शायद यह दस साल पहले हुआ था···शायद अर्थों की बाड़ हमारे चारो तरफ खिच भी गयी थी···शायद बाहर समाज मे खलबली मच गयी थी···शायद उनमें से अनेक प्राणी शब्दों की तलाश करने लगे थे ··शायद हममें उनकी दिलचस्पी खत्म हो गयी थी···शायद वे भी एक-दूसरे के शब्दों के अर्थ खोजने मे लीन हो गये थे···शायद दस बरस तक यह होता रहा था और यही वजह थी कि उन्होने भीतर घुसने की कोशिश नहीं की थी और वह निर्द्वन्द्व मेरे पास बैठा रहा था।

फिर···मेरी आवाज पर से मेरा अधिकार उठ कैसे गया।

मैं साफ देख रही हू···मैं गूगी नही हुई, मेरे मुह मे जुबान है। उसके तंतु मरे नहीं। हाथ से छूकर देखो, चिनचिना उठते हैं।

मेरी जुबान बराबर सिर धुनती विधवा की तरह तालू, मूर्धा, दांत और होंठों की पनाह मांगती फिर रही है···पड़ाव की जगह मिलती है, स्वर फूटता है, पर जैसे मैं चाहती हूं वैसे नहीं। मैं जुबान को तालू से सटा रही हू, वह मेरा साथ छोड़कर दांतो पर भटक जाती है। मैं उसे होठो से चूमना चाहती हू, वह पीछे हटकर मूर्धा से लिसड़ रही है। आंतो मे जमी चाहत बलगम बनकर गले में लिपट जाती है, हर स्वर घरघराहट में सनकर मुझे मुह चिढ़ा रहा है। अब मेरी बात का मतलब खुद मेरी समझ मे नहीं आ रहा···

नहीं, यह दस साल पहले नही हुआ। यह आज की बात है।

मैं उसे बाहर के घटाटोप अंधेरे से खींचकर अपने कमरे में ले आयी। एक-एक करके दरवाजे और खिड़कियां बंद कर लीं।

एक छोटा-सा चिराग मेरे और उसके बीच जल उठा।

इससे पहले कि रोशनी का घेरा हमारे चारों तरफ खिंचता चला जाता, उसकी एक किरन दरवाजे की सेंध से बाहर निकल गयी। अंधेरे में खलबली मच गयी। बहुत सारे लोग एकसाथ खिड़की-दरवाजों पर झपटे, कुछ दीवारें नोच-नोचकर उखाड़ बाहर फेंकने लगे। कमरा सपाट मैदान बन गया। फौरन वे लोग कतार बांधकर खड़े हो गये और उसे अपनी तरफ खींचने लगे। अंधेरा चुंबक बन गया। उनकी आवाज की आंधी के नीचे वह नन्हा चिराग पतझड़ के आखिरी पत्ते की तरह कांप उठा।

मैं देख रही थी···वह उनकी तरफ खिंचता जा रहा है···चिराग की लौ बुझने की मानिन्द बराबर कांप रही है···

मैं पूरी ताकत लगाकर उसे अपनी तरफ खींच सकती थी···कोशिश तो कर ही सकती थी···खुद घिसटकर उनकी पंक्ति में शामिल होने का जोखिम उठाने पर ही यह मुमकिन था।

मेरी नजर चिराग पर थी। इसके पहले कि वह कांपकर बुझे, मैंने उसे उठाकर अपनी जुबान पर रख लिया। हद थी मेरे पागलपन की। मैंने सोच लिया मुझमें महफूज वह जलता रहेगा।

अंधेरे में तहलका मच गया। सैकड़ों हाथ मेरी तरफ बढ़ आये। मुझे रस्सों में कस दिया गया। सख्त पंजों ने मेरा जबड़ा चीरकर खोल दिया। पर चिराग उनके हाथ नहीं आया। मैं उसे निगल चुकी थी।

मेरी झुलसी जुबान और मसूढ़ों को उन्होंने हथेलियों से भींचकर मसल डाला। नाखूनों से बींधकर लहूलुहान कर दिया। मेरी आंतों में आग लग गयी। शब्द झुलसकर धुआं बन गये। धुआं ऊपर चढ़ता है, पर बलगम में सनकर, लट्टो की तरह जले मुंह से कराहकर नीचे गिर जाता है। जमीन पर गिरे शब्दों को उठाकर कौन देखेगा?

झुलसी हुई आंतें सिकुड़कर पीछे हट गयी हैं। बीच में गहरी कुइयां खुद आयी हैं। नीचे बहुत अंदर, तली पर चिराग टिका है। कूप की गरम

दीवारों की शह पाकर कांपती लौ ठहर गयी है। देह का खून उसे सींचता रहेगा···चिराग जलेगा···

शायद दस बरस बाद फिर एक दिन आये···मैं चिराग उगल दूं··· उसके सामने···क्योंकि वह पहचान गया था मेरे भीतर चिराग जल रहा है···

पर अब ··मैं देख रही हूं···पंक्तिवार वे मेरे बराबर से निकलकर जा रहे हैं और पंक्ति के सबसे पीछे वह है, वही जो कभी मेरी बगल में ठिठककर खड़ा हो गया था और जिसे खींचकर मैं···

"जरा ठहरो!" मैंने कहना चाहा, "मेरे भीतर चिराग जल रहा है।"

खून से सनी मेरी जुबान पूरे मुंह में घूमी और उसने कहा, "चले जाओ, झुलसी आंतों में चिराग नहीं जला करते।"

हर शब्द से उगला गाढ़ा लाल धुआं लम्बे डग भरता, गिरे हुए कमरे के क्षेत्रफल के आगे फैलता जा रहा है।

"यह चिराग भी बुझ गया।" एक ने दूसरे से कहा है···और वही जिन्होंने चिराग को बुझाना चाहा था, शिथिल चाल, उसका मातम मनाते चले आ रहे हैं।

पल-दो पल और जो वह बाहर जला होता···हो सकता था ये लोग अंधेरे से सदियों पुराना अपना समझौता तोड़ लेते, रोशनी से डरते-कतराते भी उसकी आदत डाल लेते···फिर भला चिराग को कौन बुझा सकता था।

पर अब···वे नहीं जानते···मैं कितना सह सकती हूं···अब तो धुआं उनसे आगे निकल चुका।

कतार में बंधे लोग अंधों की तरह चले जा रहे हैं। एक-एक करके धुआं उन्हें लील रहा है।

वह कतार के आखिर में है। मेरे पास उसे बचाने का कोई साधन नहीं है। आवाज दूं? पर अपनी आवाज पर मेरा अधिकार नहीं है।

बस···अब थोड़ी देर और···मैं बोलने की कोशिश भी छोड़ दूंगी··· उनकी तरह नहीं, जिन्हें धुआं निगल चुका···मेरे पास चिराग है।

गूंगा कवि

गोपालदास कवि नहीं है पर कविता से उसे लगाव जरूर है। कविता पढ़ने का जितना शौक है, उतना ही सुनने का। और कभी-कभी उसके भीतर इस कदर कुछ कुलबुलाने लगता है कि वह लिखने पर भी उतारू हो जाता है। काफी पढ़ा-लिखा है वह, अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० है। अंग्रेजी में इसलिए क्योंकि सब बड़े आदमी अंग्रेजी पढ़ते हैं और उसका बाप नहीं चाहता था कि वह किसीसे पीछे रहे। फिर भी रहता वह गांव में है। गांव में इसलिए क्योंकि उसका बाप वहां जमींदार था और जमींदारी-उन्मूलन होने पर खुदकाश्त की अटकल से कुछ जमीन उसने बचा ली थी। उसने खुद भी एम० ए० करने के बाद जमा और जरब के चक्कर मे पड़कर कहीं क्लर्की करने से बेहतर गन्ने की काश्तकारी को समझा था।

तो अब खेत है, खेत पर ट्यूबवेल है, ट्रैक्टर है, रासायनिक खाद है और गन्ने की फसल है। यानी दिन में काम है, पास में रुपया है और शाम को वक्त ही वक्त है। शहर में था तो शाम का वक्त अक्सर किसी सिनेमा या थिएटर में बीतता था, मंच पर नहीं, हाल में। पर यहां न मंच है न हाल। कभी-कभी उसके भीतर की कुलबुलाहट इतनी बढ़ जाती है कि किताबें पढ़कर भी शान्त नहीं होती बल्कि और उमग उठती है। लगने लगता है कि उसके चारों ओर जो भी गुजर रहा है, उसका बयान वही कर सकता है, सिर्फ वही। अब तक जो कुछ लिखा जा चुका है, अधूरा रह गया है क्योंकि उसमें उसके बारे में नहीं लिखा गया।

एक दिन जब वह बुलबुलाहट हद से गुजर गई तब वह लिखने बैठ ही गया। उसके दिलो-दिमाग में जो भी आया, उसने उगल डाला। दिमाग की तेज दौड़ को बमुश्किल कलम से नापता रहा, लिखता रहा'''और आखिर लिखना बन्द कर निढाल हो कुर्सी पर टिक गया, और अपना लिखा पढ़ने लगा। उसने पाया कि उसने कविता अंग्रेजी में लिखी है। ठीक भी है। आखिर साहित्य में एम० ए० भी तो उसने इसी भाषा में किया है। यही भाषा बचपन में उसने सीखी-पढ़ी है, इसी भाषा की गलतियों का सुधार मेहनत-मशक्कत से किया है।

इस ख्याल के आते ही उसे अपने लिखे में बेशुमार गलतियां नजर आने लगीं, कथ्य की नहीं, व्याकरण की। उसने शुरू से आखिर तक दुबारा उसे पढ़ा और गलतियां सुधार लीं। फिर लेखक का मुखौटा उतारकर आम पाठक की तरह उसे पढ़ने बैठा। पर आश्चर्य, उसे फिर उसमें व्याकरण की गलतियां नजर आने लगीं। उसने फिर सुधार कर दिया। पर जब तीसरी बार पढ़ने पर पाया कि अब उसमें कुछ नयी गलतियां पैदा हो गई हैं तो वह खीझ उठा।

खुद माथा-पच्ची करना छोड़ उसने नौकर भेजकर लोकल हाई-स्कूल के हेडमास्टर जेकब को बुला भेजा। जेकब साहब मद्रास यूनिवर्सिटी से अंग्रेजी में एम० ए० हैं और यहां हाई स्कूल में हेडमास्टरी के साथ-साथ अंग्रेजी भी पढ़ाया करते हैं। काफी रोब-दाब वाले आदमी हैं। सुना जाता है कि वह अपनी बीवी से अलग इस गांव में सिर्फ इसलिए रह रहे हैं, क्योंकि उनकी बीवी अंग्रेजी बोलते हुए हरेक जुमले में व्याकरण की दो गलतियां करती थीं। जेकब साहब से बर्दाश्त नहीं होता था, लिहाजा अपना तबादला इस छोटे-से गांव में करा लिया था।

उनके आने पर गोपालदास ने कापी उन्हें पकड़ा दी और बोला, "इसमें व्याकरण की गलतियां सुधार दीजिए।"

मास्टर साहब की तो बाछें खिल गईं। फौरन लाल कलम लेकर उस-पर टूट पड़े और पल-भर में कापी को लहू-लुहान कर दिया। पर गोपाल-दास ने देखा तो पाया, उन्होंने उसके सुधार को सुधार कर तमाम पुरानी गलतियां वापस रख दी हैं।

"यह गलत है," उसने कहा।

"क्या ?"

"'इन द नाइट' नहीं, 'एट नाइट' होना चाहिए।"

"कविता में 'इन द नाइट' चलता है," जेकब साहब ने कहा।

"'शैल' नहीं, 'विल' होना चाहिए।"

"क्यों ?"

"हमारे टीचर कहते थे।"

"कौन टीचर ?"

"अंग्रेजी के टीचर।"

"मैं हेडमास्टर हूं," उन्होंने कहा।

यह भी ठीक है, गोपालदास ने सोचा, 'टीचर से हेडमास्टर बड़ा होता है,' पर उसे तसल्ली नहीं हुई।

"एक बार और देख लीजिए," उसने कहा।

"यह मेरी इंसल्ट है," मास्टर जैकब उठ खड़े हुए।

गोपालदास भी नाराज हो गया।

"मैं स्कूल को दस हजार का चन्दा देता हूं," उसने कहा।

"देते होंगे," हेडमास्टर ने तनकर कहा, "मैं चन्दे के लिए सही अंग्रेजी को गलत नहीं कर सकता।" और बाहर चले गए।

गोली मारो—गोपालदास ने सोचा—मैं खुद इसे सुधार लूंगा।

पर एक बार और अपनी रचना पढ़ने पर उसे लगा कि वह इसे कितनी ही बार क्यों न सुधारे, कुछ न कुछ गलतियां रह ही जाएंगी और उसपर तुर्रा यह कि वह कितना ही दिमाग क्यों न लगा ले, जान नहीं पाएगा कि ठीक क्या और गलत क्या है।

गुस्से में भर कर उसने कापी दूर फेंक दी। पर तभी उसकी बीवी कमरे में आ निकली। उसने सोचा, जब लिखा है तो कम से कम उसे तो सुना ही डाले। लिहाजा व्याकरण को नजरअन्दाज करके उसने मीठी आवाज में रस ले-लेकर अपनी कविताएं बांचनी शुरू कर दीं। बीवी ने सुना, चुप रहकर सुना। जाहिर था कि ध्यान देकर सुना क्योंकि सुनते हुए वह एक लफ्ज भी नहीं बोली। हां, माथे पर शिकन जरूर डाले रही,

यानी समझने की कोशिश करती रही।

कविता खत्म करने से पहले ही उसे लगने लगा कि बीवी समझने की कोशिश में ही उलझी हुई है, असर उसपर कुछ नहीं हो रहा। यह समझ में आते ही उसकी जबान अटकने लगी और कविता पूरी करने से पहले ही थम गई।

"कैसी लगी?" उसने पूछा।

"अच्छी है," बीवी ने कहा पर जम्हाई लेकर।

"क्या, अच्छा क्या है?" जम्हाई से चिढ़कर उसने कड़े स्वर में पूछा।

"कविता।"

"कौन-सी कविता?"

"वही जो आपने सुनाई थी," बीवी की आखों में आसू आ गए।

"भलीमानस, वही तो पूछ रहा हू," आसू देखकर उसने घबराकर अपनी आवाज नरम कर ली, "क्यों अच्छी लगी?"

"आपने जो लिखी है," बीवी ने प्यार से उसकी तरफ देखकर कहा, "आपकी लिखी चीज मुझे पसन्द न हो, कैसे हो सकता है!"

धत तेरे की! क्या वाहियात है, उसने सोचा, ऐसी भाषा में क्या लिखना जिसमें सौ गलतियां व्याकरण की हो और बीवी तक समझ न पाए।

उसे याद आ गया था कि उसकी बीवी अग्रेजी शब्दो का मतलब जरूर समझ लेती है पर शब्दों को जोड़कर बनाए वाक्यो को नही। बी० ए० पास है पर तीसरे दर्जे मे। उसे कोई शिकायत नहीं है। आपस में बोलने मे उन्हें कोई तकलीफ नहीं होती। दो-तीन भाषाए मिलाकर काम चला लेते हैं।

ठीक है, उसने तय किया कि वह उर्दू में लिखेगा। बी० ए० तक यही उसकी दूसरी भाषा रही है। फिर उर्दू के न जाने कितने शेर उसे जबानी याद हैं, न जाने कितने मुशायरे वह सुन चुका है। वह फौरन कलम तानकर बैठ गया। पर कलम तनी की तनी ही रही, कागज चाक उसने नहीं किया। दिमाग पर बेइन्तहा जोर डालने पर भी उसे कुछ नहीं सूझा।

मानो उर्दू में कुछ नहीं सूझा। हो भी कैसे—उसने डूबते दिल से सोचा—मैं इस भाषा में कभी सोचता ही नहीं। बस, दूसरों का सोचा पढ़ता-सुनता हूं। यह वह भाषा है जो किताब बन्द करते ही मेरे जेहन से हट जाती है, कुछ टुकड़े याददाश्त में टंके जरूर रह जाते हैं। यह वह भाषा है जिसे सुनकर मैं वाह-वाह जरूर कर उठता हूं पर अंग्रेजी में। फिर भी वह मायूस नहीं हुआ। उर्दू में खयाल पैदा करने की जरूरत ही क्या है? खयाल तो पहले ही लिखे पड़े हैं। बस, उन अंग्रेजी जुमलों का तर्जुमा ही तो करना है। फिर क्या था? चटपट उसने यह काम कर डाला। करते हुए उसकी कलम तेजी से चल रही थी। उसे अपने पर फख्र हो आया था। वाह, यही तो फायदा है दो-दो जबान जानने का।

कविता खत्म करके, वह दोनों पांव तख्त पर फैलाकर मसनद के सहारे बैठ गया जिससे मजमून के मुताबिक माहौल में पढ़ने का लुत्फ उठा सके। खूब तबियत लगाकर उसने पढ़ना शुरू किया पर आधे से भी कम पढ़ा होगा कि अजीब-अजीब-सा लगने लगा। बार-बार उसकी आखों के सामने चूड़ीदार पाजामे पर कोट और टाई डाटे एक जोकरनुमा इंसान नाचने लगा। जैसे-जैसे वह पढ़ता गया, उसका चेहरा-मोहरा साफ होता गया। तब उसकी आवाज आपसे-आप धीमी पड़ती हुई खामोश हो गई। उसके चुप होते ही, वह अटपटापन भी गायब हो गया। मेरा दिमाग कुछ ज्यादा ही अफलातूनी है—उसने अपनेको फटकारा। अच्छी-खासी कविता है, टाई और चूड़ीदार पाजामे का भला इससे क्या मतलब? असल में अपना लिखा जब तक कोई दूसरा न पढ़ ले, बात कुछ बनती नहीं। पर पढ़ेगा कौन? उसकी बीवी तो हिन्दी जानती है, उर्दू नहीं। पढ़वाने के लिए या अन्जुमन स्कूल के मौलवी के पास जाना पड़ेगा या पीली कोठी में रहने वाले बिगड़े नवाब छतरंगा के पास। नवाब का भरोसा नहीं, नशे में ही धुत पड़े हों। वह मौलवी साहब के पास ही चल दिया। "यह क्या है?" पढ़कर मौलवी साहब ने उससे पूछा।

"पोयम है," उसने चौंककर कहा।

"पोयम है तो अंग्रेजी में लिखो," मौलवी साहब ने फर्माया।

"मेरा मतलब कविता है," उसने कहा।

"तो हिन्दी में लिखो।"

"मेरा मतलब शेर है।"

"पूरा का पूरा शेर है?" मौलवी साहब ने दो सफों पर नजर फिराकर कहा।

"मेरा मतलब, कलाम है।" उसने झेंपलाकर कहा।

"ओह," मौलवी साहब ने फिर उसपर निगाह टिकाई और बोले, "यह धूल-धूल क्या है?"

"मेरा मतलब 'डस्ट अन्टू डस्ट' से था।"

"तो 'डस्ट अन्टू डस्ट' लिखते।"

"पर वह उर्दू में है।"

"ओह," मौलवी साहब ने पूरा कलाम दुबारा पढ़ा और पढ़कर कहा, "अच्छा किया जो पहले बतला दिया।"

गोपालदास का मुंह लाल हो गया। वह इतना बेवकूफ नहीं है कि व्यंग्य न समझे। उसने कापी उनके हाथ से खींच ली और घर चल दिया। इनसे अच्छी तो अपनी बीवी है, कद्र तो करती है मेरी, उसने सोचा। तब ऐसा क्यों न करें कि बीवी को बुलाकर कविता सुनाएं, उससे कहें कि वह उसे हिन्दी लिपि में उतार ले और फिर पढ़कर देवे। ख्याल आते ही, बीवी को बुलाकर उसने कविताएं हिन्दी में उतरवानी शुरू कर दीं। वक्त काफी लग गया, पर उनका उत्साह ठण्डा नहीं हुआ। काम पूरा होते ही बोला, "अब पढ़कर सुनाओ!"

अपने हाथ से लिखे हरफों को पढ़ने में बीवी को कोई तकलीफ नहीं होनी चाहिए थी। खास हुई भी नहीं, बस उर्दू के मुश्किल लफ्जों पर उसकी जबान लड़खड़ा जाती थी और उच्चारण हर शब्द का गलत होता था। गोपालदास की कोफ्त बढ़ गई। उसे लगा जैसे उस चूड़ीदार पाजामे वाले ने टाई के साथ अब पीली पगड़ी भी बांध ली है। उसके मुंह का स्वाद ऐसा हो गया जैसे उस चटनी को खाकर हो जाता है जो ठीक से पिसी न हो, जिसमें कभी इमली का स्वाद आए तो कभी नमक का और कभी गुड़ का।

उसने बीवी के हाथ से कापी ले ली। देर तक उसे सामने रखकर

सोचता रहा—मेरे पास विचार और भाषा दोनों हैं, फिर भी मैं गूंगा हूं। दो-दो भाषाएं मैंने सीखी हैं, तीन-तीन भाषाएं मैं सुनता-समझता हूं। बहरा नहीं, महज गूंगा। उसे लगा, जिन्दगी-भर वह सुनता ही रहा है, बोला कभी नहीं। क्योंकि उसकी अपनी बोली बचपन में ही उससे बिछुड़ गई थी। उसने याद करना चाहा कि वह ठीक क्या था पर जब भी उसने मुंह खोला, वह सीखी हुई भाषाओं के बोझ तले दब गई और वही चूड़ीदार पाजामा, टाई और पगड़ी उसे मुंह चिढ़ाने लगे।

अदृश्य

आजकल अक्सर वह भूल जाया करता है कि उसके घर मे एक स्त्री रहती है, जिसका नाम वीना है और जो उसकी पत्नी है। घर पर वह कम ही रहता है। ज्यादा वक्त, चौबीस घण्टो में से कम से कम बारह, वह क्लिनिक में गुजारता है और तीन-चार घण्टे बाहर आने-जाने में। बाकी के आठ-नौ घण्टे वह घर मे बिताता जरूर है पर उसमे से छह घण्टे सोने में निकल जाते है और बाकी आम दिनचर्या मे। उस दौरान वीना से उसका सामना कई बार होता है। खाने की मेज पर। सोने के लिए बिस्तर पर। कभी-कभी आमने-सामने बैठक में।

ऐसे मौको पर उसे याद आ जाना चाहिए कि यह स्त्री, जो उसके घर मे रहती है, वीना है, उसकी पत्नी। पर उसे तो यह तक महसूस नही हो पाता कि उसके घर में कोई स्त्री भी रहती है। न वह उसे देखता है, न उसकी आवाज सुनता है और न उसके बदन की निजी गन्ध को सूँघ पाता है।

अगर वीना स्त्री न होकर एक मशीन होती जो खाना बनाकर मेज पर रख देती, झाड़ू देकर घर की सफाई कर लेती, चादर बिछाकर बिस्तर तैयार कर देती, उसके कपड़े धुलवाकर अलमारी मे टाग देती, तो वह ठीक इसी तरह उसे नजरअंदाज करता।

सुबह उठकर वह नहाने-धोने से निबटकर मेज पर नाश्ता कर लेता है, फिर क्लिनिक चला जाता है; दुपहर को लौटकर हाथ-मुह धोकर मेज पर खाना खा लेता है और कुछ देर के लिए दूसरे कमरे मे जाकर

बिस्तर पर लेट रहता है, फिर क्लिनिक चला जाता है; रात को देरी से लौटने पर फिर मेज पर बैठ खाना खा लेता है और बिस्तर पर सोने चला जाता है। रविवार को दुपहर बाद क्लिनिक नहीं जाता। उस शाम कहीं बाहर जाने का आयोजन रहता है—कहीं डिनर-पार्टी में या सिनेमा-नाटक आदि किसी शो में। ज्यादातर, वीना साथ रहती है, फिर भी उसपर नजर नहीं पड़ती। आसपास लोगों की इतनी भीड़ रहती है कि हर किसी से कुछ न कुछ कहते-सुनते, देखने की फुर्सत ही नहीं मिलती। जब लोग नही रहते तो सामने देखने के लिए इतना कुछ होता है कि बराबर की सीट पर बैठे इंसान की तरफ नजर घुमाने का खयाल ही नहीं आता।

वास्तव मे उसकी दिनचर्या इतनी ऊब-भरी नही है, जितनी घर पर खाने की मेज और सोने के लिए बिस्तर के बीच भटकती मालूम पड़ती है। मेज और बिस्तर तो चन्द घण्टे ही हथिया पाते है उसे; बाकी तमाम वक्त वह क्लिनिक में गुजारता है। वहां बिना देखे रहना नामुमकिन है। वहा उसका काम ही देखना है। सिर्फ आखों की दृष्टि से नही, दिलोदिमाग के लगाव से भी। दिन-भर में वह, एक के बाद एक, न जाने कितने मरीज देखता है, फिर भी वे उसे दिखलाई देते रहते हैं। हा, कभी-कभी उनके चेहरे जरूर धुंधले पड़ जाते हैं, पर वे अंग नहीं, जिनका वह परीक्षण कर रहा होता है। विशेषकर, हृदय; मनुष्य का दिल। दिलों का स्पेशलिस्ट है वह। नही, दिलों का नही, दिल के रोगों का। रोगी हृदय सामने हो, तो उसकी दृष्टि कभी क्षीण नही होती। न उसका पैनापन, न एकाग्रता। बल्कि जैसे-जैसे रोगी का चेहरा धुंधला पड़ता जाता है, उसका हृदय उसके लिए और साफ होता जाता है। नही, हृदय नही, हृदय का रोगी हिस्सा।

उसकी आंखें तो देखती ही हैं, उसके कान सुनते ही हैं। साथ ही उसके हाथों की अंगुलियां, उसके दिमाग की शिराएं, उसके बदन की नसें, सब दृष्टि पा जाती हैं, और सुनने की ताकत भी। दिल की एक-एक धड़कन, धड़कनो के बीच की चुप्पी, चुप्पी की कंपकंपाती फुसफुसाहट, फुसफुसाहट में बजती धड़कन, धड़कन में हल्के से हल्का अवरोध; सब देखती हैं वे, सब सुनती हैं।

देह की सब इन्द्रियों के जरिये देखते-सुनते उसे लगने लगता है, यह

रोग से जूझता दिल किसी दूसरे का नहीं, उसका अपना धड़कता दिल है; वह धुंधला पड़ रहा चेहरा मिटकर खुद उसके अपने चेहरे में आ मिला है। कमरे में वह है, सिर्फ वह, डाक्टर देवेन, हृदय-रोग स्पेशलिस्ट, अपने काम मे माहिर, पूरे हिन्दुस्तान में मशहूर, दरियादिल, खुशमिजाज, हमदर्द, काबिल, मरीजों का खुदा, एक आला हस्ती। लगता है, और जो कुछ भी है, उसीमें समाविष्ट होता जा रहा है। आत्मा-परमात्मा का संगम; पुरुष-प्रेयसी का मिलन, क्या है इसके सामने? योग-साधना, काम-तुष्टि, सब तो है इसमें। एकाग्र चैतन्य के ये क्षण; योगी की समाधि से कम नहीं, नर-नारी के सम्भोग से हीन नहीं।

अंतिम रोगी के चले जाने पर ही डाक्टर देवेन थकान का अनुभव कर पाता है। शरीर को ढीला छोड़कर, वह आखें मूद लेता है। दो-चार मिनट मूदे रहता है। फिर जब खोलता है तो एक नकाब-सा पड़ा होता है उनपर। उसी नकाब को ओढ़े-ओढ़े वह घर आ जाता है। क्या अचरज है कि वीना उसे दिखाई नहीं देती? हमेशा ऐसा नहीं था। पहले जब वह घर पहुंचकर वीना को सामने पाता था तो एक झटके के साथ उसकी आंखों पर पड़ा नकाब दूर उड़ जाया करता था और वह वीना को देखता तो था ही, महसूस भी करता था; जितना महसूस करता था, उतनी ही स्पष्टता से उसे देखता था और देखते-देखते महसूस करता था कि वह वीना नहीं, स्वयं डाक्टर देवेन है।

पर वीना डाक्टर देवेन नहीं बनना चाहती थी। वह वीना थी और वीना ही रहना चाहती थी, कम से कम, उन क्षणों में, जब वह डाक्टर देवेन की बाहों में नहीं होती थी। डाक्टर देवेन का नाम वह अपना चुकी थी और खुशी से। वह वीना वर्मा रही थी; अब मिसेज देवेन थी; वह वीना देवेन थी; वह वीना थी पर इन सबसे ज्यादा वह 'वह' थी जिसे कोई नाम बांध नहीं सकता था। देवेन के न रहने पर, वह देवेन का नाम लिये, उसे ढूंढती फिरती थी, जो उस नाम से बंधे बिना जीना चाहती थी। उसकी खोज का तरीका शायद गलत था, शायद ओछा था। बहकावा तो वह था ही और इसीलिए अन्तहीन।

एक पुरुष के बाद दूसरा पुरुष, दूसरे के बाद तीसरा। पुरुष जो देवेन

नहीं थे; सुरेश, रमेश और नरेश थे। पर वीना भी वे नहीं थे और न कभी क्षण-भर को भी बन पाए। हां, वीना जरूर उनके साथ, कभी-कभी पूरी तरह वीना बन लेती थी; तब, जब वह उनपर पैसा लुटाती थी; तब, जब उन्हें कीमती उपहार भेंट करती थी; तब, जब उनकी सिफारिश दफ्तरों में कर देती थी; तब, जब उनका कोई अटका काम सुलझा दिया करती थी। उसके पास न पैसे की कमी थी और न रसूख की। और न ही खुले दिल की। तब भी, जब पुचकार-सहलाकर वह सुरेश, रमेश या नरेश का पौरुष इस कदर उकसा देती थी कि आत्म-प्रवंचक दम्भ से भर कर वह वीना को अपने में लुप्त करने का सपना देखने लगता था। तब वीना सुरेश को छोड़कर रमेश या रमेश को छोड़कर नरेश के पास चली जाती। किसी तरह वह अपनेको बचाए रखती। पर अनजाने ही एक से दूसरे तक जाते-जाते हर बार अपना कुछ अंश पीछे छोड़ आती।

धीरे-धीरे वह घट रही थी।

पहले डाक्टर देवेन को उसमें नजर आना बन्द हुआ। फिर स्वयं वीना की आकृति उसकी दृष्टि में धुंधली पड़ने लगी। और एक दिन आया, जब वह उसे दिखलाई देनी ही बन्द हो गई।

आजकल अक्सर वह भूल जाया करता है कि उसके घर में एक स्त्री रहती है, जिसका नाम वीना है और जो उसकी पत्नी है। वीना क्या, आजकल तो उसे अपर्णा भी ठीक से दिखलाई नहीं देती। याद नहीं, ठीक कितने दिन हुए, पर किसी एक चुंधियाते क्षण उसे देखा था…आंखों पर पड़ा नकाब एक झटके के साथ दूर उड़ गया था और अपर्णा उसके सामने थी। उसे देखा था और महसूस किया था; दिलोदिमाग से न सही, देह की तमाम इन्द्रियों से। देखा था उसे, सुना था, सूंघा था, छुआ था और स्वाद लिया था उसका।

शायद यह उन दिनों की बात थी जब पहले-पहल उसे वीना में देवेन दिखना बन्द हुआ था। सहसा वही देवेन उसे अपर्णा में दीख गया था। अपर्णा क्या थी, देवेन ही देवेन थी। उस देवेनमयी अपर्णा में खो गया था देवेन। डूब गया था देवेन। दृष्टि पा गया था देवेन। उबर गया था देवेन।

अपर्णा के लिए देवेन जो है सो तो है ही, उसका नाम उससे भी ज्यादा

है। उसे उससे प्यार है, उसके नाम से प्यार है। डाक्टर देवेन ! मिसेज देवेन ! अन्तर क्या है अपर्णा की इनके बीच में ?

अपर्णा को देवेन ने एक फ्लैट दिलवा दिया था। अब खाने की मेज और सोने के लिए बिस्तर के बीच मदरासी उसकी जिन्दगी दो घरों में बट गई थी। और अब बिस्तर पर उसे एक स्त्री नजर आने लगी थी, जिसका नाम अपर्णा था और जो उसकी रखैल थी।

अभी-अभी देवेन ने एक नया सिलसिला खोला है। प्रगति की राह का एक और उन्नत शिखर। एक नई उपलब्धि। एक और साधना-केन्द्र। एक नई चुनौती। आजकल देवेन को अपर्णा ठीक से दिखलाई नहीं देती।

आजकल अपर्णा को देवेन ही देवेन दिखलाई देता है। देवेन नहीं, उसका नाम। डाक्टर देवेन ! मिसेज देवेन !

"तुम अपनी पत्नी को तलाक दे दो।" अपर्णा ने कहा।

"क्यों ?" देवेन ने चौंककर पूछा

"तुम उसे प्यार करते हो ?" उसने पूछा।

"प्यार ?" देर तक देवेन सोचता रह गया।

"तुम उसे प्यार नहीं करते न ?" अपर्णा ने उसे अपने से सटाकर पूछा। देवेन ने उसे छुआ, सूंघा और सुना, देखा तब भी नहीं।

"पता नहीं," उसने कहा।

"इसका मतलब नहीं करते। करते तो जरूर पता रहता।"

अपर्णा ने उसे और पास खींच लिया।

देवेन ने उसे छुआ, सूंघा और उसका स्वाद लिया।

"शायद नहीं करता," उसने कहा।

"तुम मुझसे प्यार करते हो न ?" उसने सुना अपर्णा कह रही है।

"हां," उसे कहना ही पड़ा क्योंकि अब उसे अपर्णा में देवेन नजर आ रहा था। अपर्णा चुप हो गई। होना पड़ा।

"तुम नहीं जानते मैं तुम्हें कितना प्यार करती हूं," फिर जब अपर्णा ने कहा तो वह जाने की जल्दी में था।

"जानता हूं," उसने घड़ी पर नजर डालकर कहा।

"नहीं, तुम नहीं जानते। मैं तुम्हारे बिना कुछ नहीं हूं। तुम्हारे बगैर

मैं जिन्दा नही रह सकती। तुम मुझसे शादी कर लो। अपनी पत्नी को तलाक दे दो।" अपर्णा ने कहा। पर अब तक उसने अपर्णा को देखना ही नही, सुनना भी बन्द कर दिया था।

"मुझे फौरन क्लिनिक पहुंचना है," उसने कहा और बाहर निकल गया।

उसके बाद अपर्णा ने कई बार उससे कहा, "अपनी पत्नी को तलाक दे दो।" और जब-जब उसने यह सुना, उसे याद आ गया कि उसके घर में एक स्त्री रहती है, जो उसकी पत्नी है और जिसका नाम मिसेज देवेन है।

उसे याद आ गया कि देवेन केवल वही नही, वह स्त्री भी है जो उसकी पत्नी है, चाहे उसे वीना कहकर पुकारा जाये, चाहे अपर्णा, चाहे कुछ और। उसे याद आ गया कि देवेन वह भी है जो उसकी पत्नी और उसका बेटा है और घर पर उनके साथ न सही, होटल में तो रहता है।

एक दिन देवेन की तरह वह भी डाक्टर बनेगा, आजकल वह मेडिकल कालेज में पढ रहा है। एक और डाक्टर देवेन। डाक्टर देवेन एण्ड डाक्टर देवेन !

"नही," उसने कहा, "तलाक मैं नही दे सकता।" हर बार यही कहा उसने।

अब वह दुपहर-शाम घर लौटने पर वीना को देखने की कोशिश करने लगा। पर वीना तब तक बहुत घट चुकी थी। न जाने कितने अपने अंश पीछे छोड़ आई थी। सुरेश, रमेश और नरेश के पास। नरेश, रमेश और सुरेश के पास।

देवेन वीना को देखने में नाकाम रहा। फिर उसे घर के बाहर ढूंढने की कोशिश की। डिनर पार्टियों में। सिनेमा-नाटक में। वहां भी वह उसे नहीं देख पाया। चारों तरफ की भीड में मुद्दत से अनजानी वह धुंधली काया न जाने कहां खो जाया करती। डाक्टर देवेन ने हारकर वीना को देखने की कोशिश छोड़ दी। पर यह अहसास नही छोड़ा कि उसके घर में जो स्त्री रहती है, वह मिसेज देवेन है, उसकी पत्नी; और उसके दिखने, न दिखने से कोई फर्क नहीं पड़ता।

देवेन क्लिनिक की शोहरत मुसलसल बढ़ रही है। डाक्टर देवेन की काबिलीयत का डंका बराबर बज रहा है। पैसे की बौछार हो रही है। और कमाल यह है कि विदेशी गाड़ियों की धकापेल के बीच से पैदल फटेहाल मरीज भी डाक्टर देवेन तक पहुंच रहे हैं। पैसे के नशे से बढ़कर एक नशा और है। कांपती आवाज में शुक्रिया अदा करते अल्फाज सुनने का। सुनकर लगता है जैसे वही है जो इन दिलों को धड़काता है, इन रगों में खून दौड़ाता है, इन इंसानों को जिन्दा रखता है। बार-बार सुनकर लगता है जैसे वह मात्र एक पुरुष देवेन नहीं, परमपुरुष ब्रह्म है और हर रोगी उसके ही विराट रूप का अंश। जैसे क्लिनिक उसका सृजित संसार है, जहां अपनी अन्तर्दृष्टि के चमत्कार से वह जीव को जीवन प्रदान करता है। और जहां से बाहर आते ही वह अपनी अन्तर्दृष्टि तो क्या, दृष्टि भी खो देता है। तभी न, आजकल उसे न वीना दिखलाई देती है, न अपर्णा।

"मैं तुम्हारे बच्चे की मां बनने वाली हूं," एक दिन अपर्णा ने कहा। एक घिसा-पिटा वाक्य।

पर उस चुंधियाते क्षण में डाक्टर देवेन को अपर्णा के गर्भ में छिपा शिशु दिखलाई दे गया। एक और देवेन !

उसने अपनी दृष्टि अपर्णा की तरफ घुमाई ही थी कि वह बोल पड़ी, "तुम्हें मुझसे शादी करनी होगी।"

"कैसे ?" उसने पूछा।

"अपनी पत्नी को तलाक दे दो।"

"नहीं," उसने कहा, "नहीं।"

वहां भी देवेन है।

"पर यह बच्चा ? तुम्हें इसे अपना नाम देना ही होगा।"

"मैं तुम्हें सब कुछ दूंगा। पैसा, नौकर-चाकर, बड़ा घर।"

"और नाम ? सबसे पहले मुझे तुम्हारा नाम चाहिए।"

"पर..."

"तुम्हें मुझसे विवाह करना होगा।"

"असम्भव है। मेरी एक पत्नी है। उसके रहते कैसे हो सकता है ?"

"तलाक'''"

"मैं नहीं दूंगा। कभी नहीं दूंगा।"

अपने नाम को अपनेसे खुद अलग कर देना, क्या कभी मुमकिन है? नहीं, उसके लिए कभी नहीं।

"तो वीना के रहते यह नहीं होगा?"

"नहीं।"

"सोचकर फैसला करो।"

"इसमें सोचने को क्या है?"

"मैं जो चाहती हूं, लेकर रहती हूं," अपर्णा ने नाटकीय जोर देकर कहा।

डाक्टर देवेन हंस दिया।

"तो इन्तजार करो मेरी पत्नी के मरने का," उसने कहा, अपर्णा के पेट को हल्के से थपथपाया और फ्लैट के बाहर निकल गया।

उसने यह नहीं देखा कि उसकी बात सुनकर अपर्णा का चेहरा कैसे दृढ़ निश्चय से चमक उठा है।

आजकल डाक्टर देवेन बहुत खुश रहता है। आजकल उसकी नजर हमेशा भविष्य पर रहती है। अच्छा हुआ उसने दो क्लिनिक खोल लिये, वह सोचता है। दोनों बेटों को एक-एक दे जाएगा। इसी वर्ष उसका लड़का डाक्टरी पास करके घर आएगा। इसी वर्ष उसका दूसरा बेटा पैदा होगा।

पुराने क्लिनिक पर बेटे को बिठला देगा। खुद नया क्लिनिक सम्भालेगा। दूसरा बेटा तो चौबीस साल बाद तैयार होगा, उसका साथ देने को। ठीक भी है। जल्दी क्या है? अभी डाक्टर देवेन के हाथों में दम है, दृष्टि में एकाग्रता है। चौबीस साल वह आराम से मरीजों का खुदा बना रह सकता है। अकेला।

कुछ ही दिन पहले उसे राष्ट्रपति का विशिष्ट डाक्टर बनाकर सम्मानित किया गया है। आजकल रोज शाम बाहर जाना पड़ता है। कभी डिनर, कभी काकटेल। शहर के सभी बड़े लोग उसके सम्मान में कोई न कोई

आयोजन कर रहे हैं। उसकी पत्नी उसके साथ रहती है आजकल, हर शाम।

शुरू-शुरू में, जब उसकी शादी हुई-हुई थी, वह पत्नी को साथ ले जाते हुए बहुत औपचारिकता बरता करता था। गाड़ी में स्वयं पहले न बैठकर, उसके लिए बाकायदा दरवाजा खोला करता था। अब तो बहुत दिन हो गये इस आदत को छूटे। जब से उसने उसे देखना बन्द किया तभी से यह क्या, ऐसी तमाम आदतें छूट गईं।

आजकल तो वह ड्राइवर की तरफ का दरवाजा खोलकर अन्दर बैठ जाता है। फिर जब दूसरी तरफ के दरवाजे की 'धड़ाक' के साथ बन्द होने की आवाज आती है तो गाड़ी चला देता है।

आज भी यही हुआ। रात नौ बजे वह घर से निकलकर बाहर आया। गाड़ी का दरवाजा खोला और ड्राइवर की सीट पर बैठ गया। इन्तजार करने लगा कि दूसरा दरवाजा बजे और वह गाडी चलाये। कुछ देर वह इन्तजार करता रहा। दरवाजा नहीं बजा पर पास कहीं, एक ओरदार चीख गूंज गई।

वह गाडी से उतर आया और उसने देखा, एक लिपटा हुआ कम्बल दो आदमियों का उसे पकड़े रहना। तीसरे आदमी के हाथ में चाकू। चाकू का कम्बल पर वार। एक भयानक चीख, थरथराती-दहलाती। एक वार और। एक चीख और। सिसकती-दम तोड़ती। डाक्टर देवेन आगे बढ़ा। कम्बल दूर गिरा। वे भाग गये।

डाक्टर देवेन का हाथ सीधा कम्बल में लिपटी देह के दिल पर गया।

"धड़कन है," उसने कहा।

उसे उठा, गाडी में डाल, अपने क्लिनिक ले आया।

ऐसे नाजुक वक्त में वह मरीजों के चेहरे नहीं देखा करता। सुन रखा था, अर्जुन ने बाण चलाते हुए चिड़िया की सिर्फ आंख देखी थी।

फिर स्ट्रेचर, नर्स, ऑक्सीजन, आपरेटिंग थियेटर और आपरेशन हो सके, इससे पहले ही डाक्टर देवेन का फैसला, "दिल की धड़कन बन्द हो चुकी। अब कुछ नहीं हो सकता। पुलिस को खबर कर दो।"

उसकी दृष्टि का धुंधलापन खत्म हो चुका था। क्लिनिक पहुंचते ही वह साफ और पैनी हो गई थी। पर अफसोस, उसके सामने अब मरीज नहीं, लाश पड़ी थी। लाश का चेहरा देखना आसान होता है। पर उससे कोई फायदा नहीं होता। डाक्टर देवेन ने उधर नहीं देखा।

"यह कौन है?" पुलिस अधिकारी ने आते ही पूछा।

"पता नहीं," डाक्टर देवेन ने कहा।

चारों तरफ खड़े क्लिनिक के कर्मचारी भौंचक उसका मुंह देखते रह गये।

"पर ये तो मिसेज देवेन है," आखिर मेट्रन ने फुसफुसाकर कहा। "मिसेज देवेन!"

डाक्टर देवेन ने चौंककर लाश का चेहरा देखा। लाश का चेहरा देखना आसान होता है। न जाने कितने बरस बाद उसे वीना दिखी।

"मिसेज देवेन नहीं, वीना," वह बुदबुदाया।

मिसेज देवेन तो अब अपर्णा है। मिला ही लिया उसने अपने को देवेन में।

बाद में बार-बार पुलिस अधिकारी उससे एक ही सवाल पूछते रहे—"आपके सामने आपकी पत्नी का खून होता रहा और आपने उसे बचाने के लिए कुछ नहीं किया? क्यों?"

हर बार वह एक ही जवाब देता गया और हर बार वह उनकी समझ से परे रहा। वह कहता गया, "मुझे वह दिखी ही नहीं।"

एक चीख का इन्तजार

कोई बीसवीं बार उसने दर्द से बेचैन होकर शरीर अकड़ा लिया और आंखें मूंद लीं। पर मुंह से आवाज नहीं निकाली।

"दर्द बहुत है," मैंने कहा।

"हां, पर अभी समय लगेगा। चार-पांच घण्टे। डाइलेशन कम है," डाक्टर ने कहा।

"दर्द बहुत है," मैंने फिर कहा।

"ओ गॉड, छ बजे से पहले नहीं होगा। जब भी मेरी डेट होती है, कोई न कोई बच्चा पैदा करने आ जाती है," सिस्टर ने कहा।

"दर्द बहुत है," मैंने फिर भी कहा।

"उफ भाभी, तुम बहुत डरपोक हो। अभी क्लाइमेक्स कहां आया? मालूम है जब बेबी हुई थी, मां पूरा घण्टा-भर चीखती रही थी। मैं दरवाजे के बाहर ही खड़ा था। अभी एक चीख भी नहीं निकली और तुम इतना घबरा गयी," सुरेश ने कहा।

सब कमरे के बाहर चले गये।

"दर्द बहुत है?" मैंने उसके ऊपर झुककर कहा।

उसने एक बार आंखें खोलीं फिर मूंद लीं।

मुझे लगा मैं पागल हो जाऊंगी। या हो चुकी।

तभी इतनी देर से तीन ही शब्द दुहराती चली जा रही हूं—'दर्द बहुत है।' वह लोग अलग-अलग उत्तर देकर चलते बनते हैं और मैं—वहीं

कमरे में बन्द। मुझे लगा मैं अनन्त काल तक इस यौफनाक पीड़ा के सम्मुख इसी सन्नाटे में बैठी रहती रहूंगी—दर्द बहुत है। न कोई मेरी आवाज सुनेगा और न वहां कोई आवाज होगी—मेरी आवाज की प्रतिध्वनि भी नहीं। मन हुआ उसे झकझोर कर कहूं, "चीख, भगवान के लिए, चीख!" इससे बड़ी और क्या सजा हो सकती है—एक इंसान को दारुण व्यथा से पीड़ित दूसरे इंसान के पास अकेले बन्द कर दिया जाये और चारों ओर सिसकती, उफनती खामोशी फैला दी जाये।

यूं मूक नीरव रहकर कैसे यह सहे चली जा रही है। सहा मैंने भी है। पर तब मैं सक्रिय थी।

"यहां कोई नहीं सुन सकता," मैंने कहा, "चाहे तो चीख ले।"

उसने आंखें खोलीं, मुस्करायी और बोली :

"सुरेश को यहां मत बुलाना, उससे बर्दाश्त नहीं होगा।"

ठीक है। पर मैं?

मैंने देखा उसके बाल पसीने से चिपचिपा रहे हैं। चेहरा सफेद पड़ गया है। ओंठ दांतों तले भिंचे हैं और चादर पर लाल धब्बे पड़ने लगे हैं।

"डाक्टर!" मैं जोर से चिल्लायी,

"सिस्टर! सुरेश! सिस्टर!"

"लेबर रूम में ले चलिए," डाक्टर ने कहा।

"गुड! छः बजे से पहले हो जायेगा!" सिस्टर ने उसे आगे बढ़ाते हुए कहा।

"भाभी, मां कहा करती हैं भगवान की कुदरत ही ऐसी है कि औरत को जितना कष्ट हो, उतना ही मोह बच्चे से होता है," सुरेश ने कहा।

मैं लेबर रूम के बाहर चक्कर काटती रही। कोने में बैठा सुरेश सिगरेट पर सिगरेट फूंकता रहा।

भीतर बाहर सन्नाटा बना रहा।

अजीब लड़की है।

यूं ही दांत भींच-भींचकर मरेगी क्या?

"तुम्हारा क्या ख्याल है, भाभी, लड़का होगा या लड़की?"

सुरेश ने प्रश्न किया।

"जो भी हो!" मैंने गुस्से के साथ कहा।

और मन ही मन,

"शुक्र है भगवान का, मेरे और बच्चे नहीं होंगे..."

यह भी कोई तरीका है! एक इंसान को भेद कर दूसरे इंसान का जन्म! मृत्यु से भयंकर वेदना! सन्नाटा गहराता गया। मैंने चक्कर लगाना छोड़ दीवार का सहारा ले लिया।

अगर पांच मिनट और कोई आवाज नहीं आयी तो मैं दीवार से सिर टकरा दूंगी, खिड़की से नीचे कूद पड़ूंगी, कुछ न कुछ कर बैठूंगी।

बस और पांच मिनट। और पांच मिनट...और पांच...और...

"दस्तखत कीजिये—आपरेशन होगा। रक्तस्राव हो गया है।"

सिस्टर सामने खड़ी थी।

"नहीं, नहीं।" सुरेश कह रहा था, "मां कह रही थी आजकल बहुत जल्दी आपरेशन कर डालते हैं। तुम इजाजत मत देना।"

"जल्दी कीजिये। एमरजेन्सी है।"

सिस्टर का चेहरा बिल्कुल भावशून्य था।

"मां! मां! हर बात में मां!

"दस्तखत करो जल्दी!"

शायद मैं चीखी थी। सुरेश ने दस्तखत कर दिये। फिर वही सन्नाटा। भय से विह्वल। मौत के समान व्यापक!

फिर जन्म!

सन्नाटे को चीरती जिन्दगी की पुकार।

"मुबारक हो, लड़का है—साढ़े सात पौंड।" डाक्टर ने कहा।

चेहरे पर क्लान्ति...और गर्व।

"भीतर चले जाइये," सिस्टर ने कहा, स्वर में हर्ष। यद्यपि छह कब बज चुके।

सुरेश तेजी से भीतर घुस गया। दरवाजा बन्द हो गया। और मैं? अपनी तमाम चिन्ता-संवेदना लिए बाहर रह गयी।

•••